ॐ श्री परमात्मने नमः

पंचम अध्याय

गीता के पंचम अध्याय का अध्ययन करने के पहले एक बार फिर से हम समझ ले कि विषादग्रस्त किंकर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन को भगवान किस प्रकार उपदेश देते हैं कि उसका आत्मोद्धार भी हो और कर्तव्य परायणता भी बनी रहे।

द्वितीय अध्याय में भगवान ने आत्मा की अजरता अमरता से लेकर ज्ञान और कर्म के विभिन्न आयाम बताये, लेकिन वह सब कुछ सुनकर हिस्टीरिया के दौरे से उठा अर्जुन समझ नहीं सका कि आत्म उद्धार के लिए कर्म का कोई महत्व है भी या नहीं। उसे लगा कि भगवान द्वारा दिया गया सांख्य और कर्म का उपदेश भिन्न-भिन्न चीजें हैं। संसार में व्यवहार करते रहना ही लक्ष्य हो तो कर्म का उपदेश ठीक है लेकिन उसने तो भगवान से पूछा था 'मेरा कल्याण किसमें है वह बताइये।' ज्ञान और कर्म में वह कोई सामंजस्य नहीं देख पाया था अतः भ्रमित होकर तृतीय अध्याय के आरंभ में उसने कहा 'आपके मिश्रित वचनों से मेरी बुद्धि भ्रमित हो गई, मैं समझ नहीं पा रहा कि आप मुझे युद्ध के घोर कर्म में क्यों लगा रहे हैं, आप मेरे कल्याण की बात स्पष्ट रूप से बताइये।'

प्रत्युत्तर में तृतीय अध्याय में कर्म से सम्बन्धित विविध बातों को भगवान विस्तार से समझाते हैं। अर्जुन को बताते है कि किस प्रकार कर्म अपरिहार्य है और सारी सृष्टि कर्म के सहारे ही चल रही है। कर्म की आवश्यकता बताते समय भगवान बीच-बीच में संन्यास शब्द का व्यवहार जानबूझकर करते है। तीसवें श्लोक में वे कहते हैं- मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्म चेतसा, अर्थात् तुम सम्पूर्ण कर्मो का संन्यास मुझमें करो।

अर्जुन के लिए तो अभी तक कर्म का अर्थ वैदिक कर्मकाण्ड अर्थात् यज्ञ याग हवन इत्यादि ही थे जिन्हें किन्हीं विशेष कामना की पूर्ति

के लिए किया जाता था और संन्यास का अर्थ संसार की सभी वस्तुओं, व्यक्तियों और कर्मों को त्यागकर हिमालय की कन्दराओं में रहकर तप करना था। जब उच्च शिक्षा प्राप्त राजकुमार की दशा यही थी तो साधारण व्यक्ति का तो कहना ही क्या? भगवान श्रीकृष्ण ने अद्‌भुत कुशलता के साथ इन अनबूझे शब्दों के सही अर्थ प्रस्तुत किये और यज्ञ को सर्वसाधरण के दैनिक जीवन में प्रतिष्ठा दिलाई, यह बताया कि आसक्ति को त्याग कर किये गये हमारे दैनिक व्यवहार के कर्म भी यज्ञ बन सकते हैं। इस प्रकार वेदों का गुह्य ज्ञान जन साधरण के लिए सुलभ करवाना, उनको हमारे रोजमर्रा के व्यवहार लिए सही-सही परिभाषित करना ही गीता की परम विशेषता है। भगवान श्रीकृष्ण केवल तपस्वियों के उद्धार का नहीं, हम साधारण लोगों के उद्धार का मार्ग बताते हैं, कल्याण की राह दिखाते हैं।

कर्म योग के विषय में जब कोई विस्तार से बताने जाएगा तो निश्चित रूप से वह कहेगा कि कर्म तो तुम अभी भी कर रहे हो लेकिन अज्ञानपूर्वक कर्म कर रहे हो। तुम्हें सच्चाई का ज्ञान होना चाहिये। तुम्हें पता होना चाहिए कि सभी कर्मों का वास्तविक कर्त्ता कौन है और तुम्हारी इसमें क्या भूमिका है। यह ज्ञान होने के बाद कर्म बन्धन छूट जाते हैं। भगवान के मत में कर्मों के संन्यास का वास्तविक अर्थ यही है। अतः चतुर्थ अध्याय में भगवान ने जो उपदेश दिये हैं उसका नाम हुआ ज्ञानकर्म संन्यास योग।

ज्ञानपूर्वक कर्म करने से चित्त की शुद्धि होती है, कर्त्तापन का अहंकार छूटता है, साधक आध्यात्मिक दृष्टि से उस ऊंचाई पर पहुंचता है जहां कि वह वास्तविक संसार और सांसारिक कर्मों को त्याग करके परमात्मा का ध्यान कर सके जो कि परम ज्ञान का साधन है। तीसरे अध्याय में भगवान ने कहा था कि आसक्ति छोड़कर कर्म करता हुआ मनुष्य परम पद को प्राप्त कर लेता है। ज्ञानपूर्वक कर्म और परमपद की प्राप्ति के बीच एक अवस्था है कर्म संन्यास की, जिसे भगवान ने उस समय नहीं बताया था। चतुर्थ अध्याय में उन्होंने इस विषय को छुआ भर था और अब विस्तार से बताएंगे। इसलिए पंचम अध्याय में जो उपदेश भगवान करेंगे उसका नाम है कर्म संन्यास योग और उसके बाद छठे अध्याय में ध्यान योग बतायेंगे जो परम पद की प्राप्ति कराता है। इस प्रकार पंचम अध्याय कर्म और ध्यान का

सेतु है। गीता का प्रत्येक अध्याय साधना के क्रमिक विकास के अनुसार है। हमलोग संसार की तू तू-मैं मैं के बीच व्यवहार करते-करते कुछ देर समय निकालकर ध्यान करने का प्रयत्न करते हैं और फिर शिकायत करते हैं कि दस साल हो गए ध्यान करते, ध्यान लगता ही नहीं। हम कर्मों का त्याग कर निश्चल होकर बैठ सकें इसके लिए हमें चतुर्थ और पंचम अध्याय की साधना करनी होगी, यानि संसार में गृहस्थी के सब कर्म करते हुए भी आसक्ति, अहंकार और वासना को सेवा तथा निस्वार्थ कर्म द्वारा क्षीण करें। भरपूर कर्म करते हुए भी फल भोगने की चाह न रखें, साथ ही यह समझें कि मैं तो एक यंत्र मात्र हूं जिसे चलाने वाला कोई और है, मैं तो कठपुतली मात्र हूं जिसे नचाने वाला कोई और ही है। इसका यथेष्ट अभ्यास करेंगे तभी हम कर्म त्याग के काबिल बनेंगे जो वास्तविक अर्थों में संन्यास है और इसी बात को भगवान विस्तार से इस पंचम अध्याय में बताने जा रहे हैं। हमने अपने दैनिक कर्म का समय और साधना का समय अलग-अलग कर रखा है, हम समझते हैं कि सांसारिक कर्म अलग बात है और साधना कर्म अलग बात है। हमारा आत्मोद्धार तो उन्हीं से होगा जिन्हें हमने साधना कर्म समझा है यानि पूजा, पाठ, भजन, कीर्तन, स्वाध्याय, जप, इत्यादि। दोनों में हम सामंजस्य नहीं कर पाते। ठीक हमारी ही तरह अर्जुन भी भगवान द्वारा बताए गए आत्मोद्धार के क्रमिक विकास को ठीक समझ नहीं पाया। सांसारिक कार्य, फिर निष्काम कर्म तत्पश्चात कर्म संन्यास तब परम पद की प्राप्ति जिसे ब्रह्म कहें या परमात्मा या अखण्ड आनंद या आत्यन्तिक सुख। उसने यह नहीं समझा कि इन विभिन्न चरणों को एक के बाद एक पार करना है।

इसीलिए भगवान चतुर्थ अध्याय में जब यज्ञ कर्म का उपदेश देते-देते बीच में कर्म संन्यास के ज्ञान द्वारा कर्म को भस्म करने आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं तो उसने सोचा कि भगवान दो अलग-अलग मार्ग बता रहे हैं। एक तो अनासक्त होकर निष्काम कर्म करने का दूसरा कर्मों का त्याग करने और ज्ञान पाने का। एक बार फिर वह भ्रम में पड़ गया। पंचम अध्याय का आरंभ अर्जुन के प्रश्न से होता है जिसमें उसने वह अपनी शंका प्रकट करते हुए उसके निवारण की प्रार्थना करता है।

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ।।१।।

अर्जुन ने कहा- हे कृष्ण आप कर्मों को त्यागने की बात कहते हैं और फिर निष्काम कर्मयोग की भी प्रशंसा करते हैं। इन दोनों में से मेरे लिए जो श्रेष्ठ हो अर्थात् अधिक कल्याणकारी हो वह एक निश्चित करके मुझे बताइए।

कुशल शिक्षक जब विद्यार्थी को पढ़ाते हैं और जब ऐसा लगने लगता है कि विद्यार्थी कुछ सीख गया है तो जानबूझ कर गणित के प्रश्न हल करने में एक स्टेप छोड़ देते हैं जिससे पता चल जाता है कि विद्यार्थी विषय को कितना समझ पाता है। कभी-कभी वे लोग जानबूझकर कुछ गलत बोल देते हैं ताकि विद्यार्थी उन्हें टोके। इससे विद्यार्थी कितना सजग है यह पता चलता है। कभी-कभी कोई बात संशयात्मक ढंग से या अस्पष्ट तरीके से बोल देते हैं ताकि सजग, सचेत, जिज्ञासु विद्यार्थी प्रतिप्रश्न करे और विषय की जटिलता को समझने का प्रयत्न करे। भगवान ने भी कहा था कि कर्म की गति गहन है और बड़े-बड़े बुद्धिमान व्यक्ति भी भ्रम में पड़ जाते हैं। और फिर कर्म के विषय में बताते हुए कर्मो को लीन करने, भस्म करने और संन्यास अर्थात् त्याग करने की बातचीत बीच-बीच में करते जा रहे हैं और चतुर्थ अध्याय के अंतिम श्लोक में तो उन्होंने हद कर दी। एक ही सांस में ज्ञान की तलवार से कर्मों के बंधन को काटने और कर्म (युद्ध) के लिए खड़े होने कह डालते हैं।

अर्जुन बिचारा अभी-अभी जड़ता के दौरे से जरा चैतन्य हुआ था, स्वाभाविक ही वह फिर भ्रम में पड़ गया, इसीलिए उसने पूछा कि आप कभी कर्म त्याग की बात कहते हैं कभी कर्म योग की। आप मेरे लिए एक पथ निश्चित करके बताइए जो मेरे लिए उचित, सुगम और कल्याणकारी है। भगवान का काम बन गया। वे अर्जुन की चेतना को परखना चाहते थे। अर्जुन संन्यास लेना चाहता था अतः वे उसे समझाना भी चाहते थे कि संन्यास का वास्तविक अर्थ क्या होता है और वे यह भी चाहते थे कि इस

विषय में अर्जुन स्वयं प्रश्न करे और तब वे उसे अच्छी तरह समझाएं।

देखने में यह प्रश्न तीसरे अध्याय के आरम्भ में किए गए प्रश्न जैसा ही मालूम होता है जब उसने कहा था, 'हे कृष्ण यदि आपके मत में ज्ञान कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठतर है तो फिर हे केशव, आप मुझे ऐसे भयंकर कर्म में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं? आपके परस्पर विरोधी वचनों ने मेरी बुद्धि को मोहित सा कर रखा है, ऐसा एक मार्ग निश्चित करके बताइए जिससे मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूं।

वस्तुत: दोनों प्रश्न समान नहीं हैं। तीसरे अध्याय में तो उसे लग रहा था कि भगवान परस्पर विरोधी बातें कर रहे हैं अत: वह मोहित हो रहा था यहां इतना सुधार हो गया है कि अब उसे लग रहा है कि भगवान जो दो बातें बता रहे हैं वे दोनों परस्पर विरोधी नहीं बल्कि एक ही लक्ष्य के दो भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। दोनों ही कल्याणकारी हैं यह भी वह समझ गया। अब तो वह केवल यह जानना चाहता है कि विशेष रूप से उसके लिए कौन सी राह उपयुक्त होगी।

शिष्य की इतनी प्रगति तो शिक्षक के लिए यथेष्ट है। अब वे समझाएंगे कि जिसे तुम एक लक्ष्य के दो भिन्न पथ समझ रहे हो वे वास्तव में भिन्न नहीं है। दोनों रास्तों को अलग अलग पकड़ कर चलने से लक्ष्य प्राप्ति नहीं होगी बल्कि एक के बाद दूसरी सड़क पर मुड़ना होगा तब परमानन्द की मंजिल तक पहुंचोगे।

यही अर्जुन रोग, अर्जुन भ्रम हम सबको ग्रस्त किए हुए है। या तो हम छल, कपट, राग, द्वेष, माया, मोह, लालसा, आसक्ति, अहंकार में डूबे रहते हैं या जब इनके कारण स्वाभाविक नियम के अनुसार मिलने वाले कष्टों से त्राहि-त्राहि कर उठते हैं तो 'सब कुछ छोड़ छाड़ कर' टीका चन्दन माला उठाने की बात करते रहते हैं, लेकिन बात भर ही करते रहते हैं, न जंजाल छुटता है न प्रभु मिलते हैं। हृदय में वासनाओं का बोझ लेकर मंदिर में भगवान से मिलने जाएंगे तो, 'साहब नहीं है' की तख्ती ही टंगी मिलेगी। आपको तो साहब को पहले अपने घर बुला कर खुश करना होगा तभी वे आपसे दफ्तर में भी भेंट करेंगे। भगवान भी सरकारी साहब से कम नहीं है, उनसे भेंट करने जाने से पहले उन्हें अपने घर यानि अपने कार्य क्षेत्र में

लाइए, अपने किचन, अपने डाइनिंग रुम, अपने बेडरुम, अपने कार्यालय, अपने कारखाने, दुकान सभी जगह प्रतिष्ठित कीजिए।

अर्थात् पहले कर्म योग कीजिए फिर जंजालों को छोड़ने और भगवान से मिलने की बात सोचिएगा। अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में भगवान बड़े आराम से धीरे-धीरे बारीकी के साथ सब बताएंगे।

श्री भगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।२।।

श्री भगवान बोले-(वैसे तो) कर्मत्याग और कर्मयोग दोनों ही मोक्षप्रद हैं फिर भी उन दोनों में कर्मत्याग की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है।

भगवान श्रीकृष्ण चतुर मैनेजर, सुयोग्य सेल्समैन और अनुभवी शिक्षक भी हैं। उन्हें अर्जुन जैसे पक्के खिलाड़ी को 'मैनेज' करते हुए नई शिक्षा प्रणाली 'सेल' करनी है। ये लोग कभी सामने वाले की बात काटते हुए सीधे ना नहीं करते। इन्हें 'यस' की भाषा सीखनी होती है। 'जी हां, आप जो कहते हैं वही ठीक है पर .... से ही वे अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। अनुभवी शिक्षक भी शिष्य की बात को सीधे काटकर उसे हतोत्साहित नहीं करते। भगवान यहां सीधे नहीं कहते हैं कि अर्जुन तुम भूल कर रहे हो, ये दोनों रास्ते भिन्न नहीं हैं। वे यही कह रहे हैं कि हां दोनों ही ठीक हैं पर कर्मयोग फायदेमंद ज्यादा रहेगा। आइए, हम भी आगे की बात न सोचकर अभी इसी सीढ़ी पर रहें और देखें कि कर्मयोग को श्रेष्ठतर क्यों कहा जा रहा है।

आम आदमी स्वभाव से आरामतलब होता है। वह कम से कम काम करके ज्यादा से ज्यादा आराम करना पसंद करता है। आलसी, आरामतलब व्यक्ति तो किसी भी क्षेत्र में कुछ कर ही नहीं सकता, इसलिये उससे कुछ करवाना है तो सबसे पहले तो किसी भी तरह से उसे खाट से उठाना होगा। दिनभर खटिया में पड़े रहनेवाले व्यक्ति को कहा जाए कि आज दिनभर यदि काम करो तो चार दिन तक तुमको बैठे-बिठाये पूरी खाने को

मिलेगी तो शायद लालच में आकर वह खाट छोड़ने को तैयार हो जाये। चार दिन बाद कहें, 'यदि दो दिन काम करोगे तो पूरी के साथ हलवा भी मिलेगा।' इसी प्रकार लालच में वह अपनी अकर्मण्यता छोड़ेगा। धीरे-धीरे उसकी कामनाएं बढ़ती जाएंगी और वह कर्मशील बनेगा।

इस अवस्था में आने के बाद उससे कहा जाए - 'देखो, तुमको सारी सुख सुविधाएं मिलने पर भी मन की शांति नहीं मिल रही है न? तुम काम यूं ही करते रहो पर इसमें कामना को निकाल बाहर करो। इस प्रकार वह काफी समय तक करता रहेगा तो वासना का बोझ हल्का होगा, चित्त शुद्ध और स्थिर होगा, तब जाकर कर्मसंन्यास की बात आएगी जो इस अध्याय का विषय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कर्म त्याग ऊपर से देखने में आसान भले लगे, वास्तव में बहुत कठिन काम है। काम करके तो शायद हम तीन-चार घंटे में थकेंगे लेकिन शरीर से बिना कुछ किये आंख बंद करके बिना हिले-डुले बैठने को कह दिया जाय तो तीन-चार मिनट में ही घबरा जाएंगे, और मन-बुद्धि भी काम करना बंद कर दें ऐसी अवस्था में तो हम तीन चार सेकेण्ड भी नहीं रह सकेंगे।

हम अभी अपनी सांसारिक कामनाओं के चक्कर में पड़े है और अब आत्मोत्थान की बात सोचना आरंभ किया है तो हमारे लिये यही ठीक होगा कि कामना को निकाल फेंकने का प्रयत्न करें। इसी में हमारा कल्याण है। अर्जुन भी हमारी भांति संसारी था अतः अच्छा उपदेष्टा उसे यही कहेगा कि कर्मयोग ही अच्छा रहेगा।

जब दो वस्तुओं का तुलनात्मक विवेचन होता है तब एक का ही वर्णन करके उसे श्रेष्ठ करार नहीं कर दिया जाता है। विवेचन पूरा तब होगा जब दोनों को विस्तार से वर्णित किया जाये। कर्मयोग के बारे में तो भगवान काफी कह चुके हैं अब वे कहते हैं कि हे अर्जुन! कर्म संन्यास की बात करने से पहले तुम यह जान लो कि संन्यासी वास्तव में कहते किसे हैं।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ।।३।।

हे अर्जुन! जो (किसी से) द्वेष नहीं करता और न आकांक्षा ही करता है, उसे संन्यासी समझो, क्योंकि राग-द्वेषादि से रहित पुरुष आसानी से संसार के बंधन से मुक्त हो जाता है।

प्रस्तुत श्लोक भगवान श्रीकृष्ण द्वारा कहे गए क्रांतिकारी वाक्यों में से एक है। ऐसी बात नहीं कि वे अपने मन से बना कर नई परिभाषाएं अर्जुन को बता रहे हैं। उन्होंने जो कुछ कहा है, वह वेद, उपनिषद् से भिन्न नहीं है, पर उनका प्रस्तुतिकरण बिल्कुल अनूठा है। समय की मांग के अनुसार समझने-समझाने की शैली बदलती रहती है, तभी वह बात स्थायी रूप से प्रभावशाली रह पाती है।

उदाहरण के लिए, हमारे लिए उत्तर-दक्षिण दिशा में लेट कर सोना ठीक नहीं। बीस वर्ष पहले तो किसी को उत्तर-दक्षिण सोने के लिए मना करने पर वह यदि 'क्यों' प्रश्न करता तो उसे कह दिया जाता -'क्योंकि मुर्दे को उत्तर-दक्षिण सुलाया जाता है।' यह बात उसे तुरन्त जंच जाती और वह अपने पलंग को पूर्व-पश्चिम घुमा लेता। आज के किसी युवक को यह उत्तर देकर देखिए, वह कैसे ठठाकर हंस पड़ेगा ! लेकिन उसे बताया जाय कि पृथ्वी की भी चुम्बकीय शक्ति है, यह उत्तर-दक्षिण दिशा में काम करती है और हमारे शरीर की विभिन्न क्रियाओं पर प्रभाव डालती है। उत्तर-दक्षिण सोने से इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। तब वह युवक उस पहले वाले बूढ़े से ज्यादा सजग हो जाएगा कि उत्तर-दक्षिण नहीं सोना है।

इस प्रकार भगवान पुरानी बातों को नए परिप्रेक्ष्य में, नए संदर्भ में कहते हैं जिससे प्रभावशाली भी लगती है और स्पष्ट समझ में भी आती है। साधू शब्द का वास्तविक अर्थ हम सभी जानते हैं- त्यागी, वैरागी महात्मा। वे संसार की तड़क भड़क से दूर रह कर साधारण गेरुए वस्त्र पहन कर भिक्षाटन पर निर्वाह करते हैं ताकि अधिक से अधिक समय ध्यान समाधि आदि में व्यतीत कर सकें। कालान्तर में कुछ लोग बिना सच्चे वैराग्य के जीवन की समस्याओं से घबरा कर हिमालय में रहने लगे और साधुओं का बाना अपनाने लगे। उनका चित्त शुद्ध नहीं, मन में वासनाएं भरी हुई हैं, यदि हम उन्हें जरा भी नजदीक से जान लेंगे तो कहेंगे- 'अरे वह साधु थोड़े ही

है, पाखण्डी है, पाखण्डी!' अर्थात् साधारण आदमी भी समझता है कि साधु वास्तव में क्या चीज है, फिर भी हम आराम से हर किसी को साधु बाबा कह देते हैं। 'देखा तुमने फलां व्यक्ति को, इतना गहरा धक्का लगा कि बीवी बच्चों को छोड़कर साधु हो गया' जैसे वाक्यों का व्यवहार करते हैं। ऐसे ही धीरे-धीरे 'साधु' शब्द अपना मूल अर्थ खो बैठता है और अर्जुन जैसे लोग मानने लगते हैं कि जिसने कर्मों का त्याग कर भिक्षाटन और गेरुए वस्त्र अपना लिए हैं वही साधु है।

ऐसे समय कोई कृष्ण, कोई पार्थ सारथि गरज कर कहता है- 'नहीं! संसार को छोड़ने वाला संन्यासी नहीं, संन्यासी तो वह है जिसने राग-द्वेष, कामना-आकांक्षा को छोड़ा है।' बात पुरानी ही है, लेकिन नई बुलन्दी के साथ, नए ढ़ंग से कही गई है जो हमारी आंखें खोल देती है, हमारे दृष्टिकोण को नया आयाम, नई दिशा देती है और हम समझ जाते हैं कि संसार में व्यवहार करते हुए भी हम संन्यास पद प्राप्त कर सकते हैं। फिर सच तो यह है कि जो वस्तु मेरी नहीं, उसका त्याग भी कैसे कर सकती हूं। यदि मैं ऐलान कर दूं कि रांची म्युनिसिपल की सारी भूमि मैंने अमुक आश्रम को दान कर दी तो वह मेरा त्याग नहीं, मूर्खता या पाखण्ड या धूर्तता ही हो सकती है। त्याग तो हम उसी का कर सकते हैं जो हमारा है। संसार हमारा नहीं है, हम तो खाली हाथ ही आए थे, खाली हाथ ही जाएंगे। यह तो हमें दिया गया एक क्षेत्र है जो लाइब्रेरी की पुस्तक की भांति हमें निश्चित अवधि के लिए मिला है ताकि हम इसका आनंद भी ले सकें और अनुभवों से ज्ञान प्राप्त कर अपना कल्याण सुनिश्चित कर सकें। हमें न तो इसे छोड़कर कहीं चल देने का अधिकार है, न ही सदा के लिए अपना समझ लेने का।

संसार हमारा नहीं है, किन्तु इसके साथ अहंता-ममता, राग-द्वेष, तेरा-मेरा का जो रिश्ता हमने जोड़ रखा है, वह हमारा है। इसे हमें छोड़ना है। वास्तविक त्याग वही है, सच्चा संन्यास वही है। भगवान कहते हैं कि जो आशा-निराशा, राग-द्वेष के द्वंद्वों से मुक्त हो जाता है वह सभी बंधनों से आराम से मुक्त हो जाता है। बंधनकारी हमारी अपनी भावनाएं ही होती हैं, बाहर की वस्तुएं नहीं। सुख-दुख देने वाले हमारे अपने विचार होते हैं, दूसरे व्यक्ति के नहीं। हम तो अपनी अज्ञानतावश

वस्तुओं और व्यक्तियों को सुखी या दु:खी करनेवाले, बंधन में डालने वाले, या मोक्ष प्रदान करने वाले समझ बैठते हैं।

ताश के पत्ते का महल बनानेवाला छोटा-सा बच्चा कितनी तन्मयता के साथ एक-एक पत्ता रखता है और गर्व का अनुभव करता है, 'मैंने तीन तल्ले लगा लिए.... चौथे का भी यह आखिरी पत्ता लगा रहा हूं.... इतना बड़ा घर मेरे किसी भाई ने कभी नहीं बनाया..... मैं मम्मी-पापा को बुलाकर दिखाऊंगा .....।' इस प्रकार उस पत्ते के महल के साथ उसकी अहंता, ममता, उपलब्धि की भावना आदि के कितने रिश्ते जुड़ जाते हैं और ऐसे में उसका बड़ा भाई फूंक मारकर उसे ढ़हा दे तो क्रोध और दु:ख से वह पागल हो उठता है। लेकिन बड़ा भाई कभी खाली बैठे वैसा घर बनाता हो और वह लात मारकर गिरा दे तो भाई खिलखिलाकर कहेगा- 'अरे, तू कब आकर चुपके से खड़ा हो गया, मुझे पता ही नहीं चला।' और दोनों में छेड़-छाड़, हंसी-ठिठोली आरंभ हो जाएगी। काम दोनों का एक ही था पर बड़ा भाई 'बड़ा' हो गया है, सयाना है, समझदार है। ताश के महल से उसे कोई भावनात्मक या बौद्धिक लगाव नहीं है, वह तो महज एक खेल समझता है, इसीलिए वह 'महल' उसे 'बांध' नहीं पाता। खेलते वक्त भी वह 'महल' से मुक्त है।

इसी प्रकार इस संसार से भी जिसने राग-द्वेष और कामना का रिश्ता नहीं रखा, वह इसके बंधन से छूटा हुआ ही है, उसे इसके लिए कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। वह नित्य मुक्त है। भगवान उद्घोष करते हैं कि ऐसा व्यक्ति संन्यासी है। इस प्रकार संन्यास को शरीर का चोला नहीं मन का बाना बताने के बाद भगवान कहते हैं-

सांख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।
एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।४।।

सांख्य योग और कर्मयोग को अलग-अलग (मार्ग) बताने वाले बच्चे हैं न कि पण्डित जन (क्योंकि) एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित पुरुष दोनों के फल को प्राप्त करता है।

सांख्य और योग शब्द पहले ही बताए जा चुके हैं पर यहां एक बार फिर दुहरा लेना उचित होगा। सांख्य शब्द संख्या से बना है - जब हम विचार के द्वारा सत्य को जानने का प्रयत्न करते हैं तो तर्क की कसौटी पर कसते हुए एक-एक बिंदु पर चिंतन करते हैं और एक के बाद एक तर्क की सीढ़ी चढ़ते हुए ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं। अत: परमात्मा से जुड़ने की जो चिन्तन, विचार, धारणा, ध्यान की पद्धति है जिसे हम साधारणतया ज्ञान मार्ग कहते हैं वही सांख्य मार्ग है।

योग का अर्थ है जुड़ना। अपने वास्तविक स्वरूप को जानना और उससे एकरूपता का अनुभव करना ही आध्यात्म शास्त्र में योग है। जब ज्ञान मार्ग का अनुसरण करते हुए परमात्मा को जानते हैं तो वह ज्ञान अथवा सांख्य योग है। जब हम निष्काम कर्म को माधयम बनाकर चित्त शुद्ध करते हैं तथा हमारे और परमात्मा के बीच वासना के पर्दे को हटाकर उनका दर्शन करते हैं तो यह पथ कर्म योग है।

यहां भगवान सांख्य योगौ शब्दों का व्यवहार करते हैं, ये दोनों अलग-अलग शब्द है यह बात श्लोक की बाकी शब्द रचना से एकदम स्पष्ट है। गीता में जहां भी योग शब्द अकेला आया है वहां प्राय: योग का अर्थ कर्मयोग ही लेना ठीक होता है अत: इस श्लोक का तात्पर्य हमें यही समझना चाहिए कि सांख्य योग और कर्मयोग अर्थात ज्ञान मार्ग और कर्म मार्ग दो अलग-अलग मार्ग नहीं हैं। इन्हें एक दूसरे से भिन्न समझकर 'मैं तो ज्ञानी हूं,' 'मैं तो कर्मयोगी हूं' कहते हुए लड़ने वाले मूर्ख हैं।

अपने कथन के पक्ष में तर्क देते हुए भगवान कहते हैं कि एक में भी भली प्रकार स्थित होने वाला व्यक्ति दोनों के फल प्राप्त करता है। ज्ञान योग में स्थित व्यक्ति और कर्म योग में स्थित व्यक्ति के दृष्टिकोण के अन्तर को जरा देख लें -

ज्ञानी मानता है कि संसार ब्रह्म ही है जो हमारे अज्ञान के कारण हमें भिन्न-भिन्न स्वरूपों में दिखाई देता रहा है। सभी जड़ चेतन जीवों का सत्य स्वरूप एक ही है। प्रकृति के जितने खेल हमें दिखाई दे रहे हैं ये उसके त्रिगुणात्मक रूप यानी सत्व, रजस, तमस के कारण है और ये गुण हैं जो गुणों के साथ व्यवहार कर रहे हैं। जैसे सागर की सतह पर छोटी बड़ी

लहरें अठखेलियां करती हैं, कोई बढ़ती है कोई घटती है, कोई उठती है कोई गिरती है पर वास्तव में सागर की अथाह जल राशि वही है जिसमें इन लहरों के खेल के कारण कोई परिर्वतन नहीं आता। ऐसा दृष्टिकोण होने के कारण उस पर इन लहरों के उत्थान पतन अर्थात् संसार की ऊंच नीच का प्रभाव नहीं पड़ता, संसार में व्यवहार करते हुए भी वह इसके द्वन्द्वों से अप्रभावित सदा एकाकी भाव से अपने आत्मस्वरूप में स्थित रहता है जहां चिर शांति और अखण्ड आनन्द हैं।

कर्मयोगी संसार में व्यवहार करते समय सोचता है कि मेरा अध्किार तो केवल कर्म में है, फल का आग्रह मैं नहीं कर सकता। वह तो सृष्टिकर्ता के विधान के अनुसार ही मिलेगा, अतः फल के बारे में सोच-सोच कर मैं क्यों टेंशन पालूं। अच्छे से अच्छा कर्म करने का उत्साह रखते हुए वह फल का आग्रह यानि उससे संबंधित अपने राग द्वेष इत्यादि त्याग देता है जिससे उसका मन अपनी वासनाओं के सुर में नाचना बंद कर बुद्धि के साथ मेल कर लेता है। इसीलिए भगवान ने गीता में इसे एक नया नाम बुद्धियोग भी दिया है।

भगवान का स्पष्ट मत है कि ज्ञान और कर्म योग का मार्ग अलग अलग नहीं। बिल्कुल एक है। ज्ञान का मार्ग कर्त्ताभाव का त्याग है और कर्म का मार्ग भोक्ता भाव का त्याग है।

दो भिन्न मार्ग के लिए ऐसी बात तभी कही जा सकती है जब दोनों पथ अलग-अलग दिशाओं में घूमते हुए भी एक ही शिखर पर जा पहुंचते हों या एक ही मार्ग को एक चौराहे के पहले तक किसी नाम से पुकारते हों और चौराहे के बाद उसका नाम बदला जाता हो। तब हम यही कहेंगे कि जो आशुतोष मुखर्जी रोड है वहीं जवाहरलाल नेहरु रोड है जो चौरंगी तक जाती है। देखें भगवान इस विषय में क्या कहते हैं।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।५।।

सांख्य से जिस स्थान की प्राप्ति होती है उसी की प्राप्ति (कर्म)

योग से होती है। जिसने सांख्य और योग को एक ही समझा है उसी ने (ठीक) समझा है।

भगवान के मत में सांख्य मार्ग और कर्म मार्ग दो भिन्न मार्ग हैं ही नहीं। एक ही मार्ग का पिछला भाग कर्म योग और अगला भाग ज्ञान योग है। कर्म योग से गुजरने पर ही ज्ञान योग तक पहुंचना संभव है।

वैसे इस बात को समझना कोई मुश्किल बात नहीं। यह तो हमारे स्वभाव में ही है। इसका कुछ कुछ दर्शन हम अपने समान्य जीवन में ही कर सकते हैं। एक बालक जब युवा होता है तो उसके हृदय में अनेकों कामनाएं होती हैं, उमंगें होती हैं और उन्हें पूरा करने का उत्साह भी होता है। वह उसके लिए अथक परिश्रम भी करता है। उसे अपने लिए जीवन साथी चाहिए। वह विवाह करता है और वैवाहिक जीवन के खट्टे-मीठे अनुभवों से गुजरता है। अपने जीवन को वैभवशाली बनाने के लिए धन कमाता है, घर बनाता है, कार खरीदता है। फिर उसे बच्चों की कामना होती है। एक-दो-तीन बच्चे भी होते हैं उन्हें पालने में उसे बहुत भांति-भांति के अनुभव होते हैं जिन्हें वह झेलता है क्योंकि यह सब उसकी अपनी मांग है। बच्चे बड़े हो रहे हैं, उसका दृष्टिकोण बदल जाता है। वह बड़ा घर लेता है - बच्चों के लिए चाहिए। अपना व्यवसाय बढ़ाता है - बच्चों के लिए जरूरी है। लड़कियां भी देखता है - बच्चों के लिए। 'मेरा क्या है, मैंने बहुत भोग लिया। बच्चे सुखी रहे बस।' इस प्रकार 'मेरे लिए' का स्थान 'बच्चों के लिए' ले लेता है। कर्म में कमी नहीं आई है लेकिन भावना बदल गई है। अपनी कामनाएं हट गई हैं, जिन विषयों के लिए पहले तीव्र अनुराग था उनके लिए अब वैराग्य की अनुभूति होने लगी है। अब घंटों टी वी से चिपक कर बैठने की इच्छा नहीं होती। बहुत सी बातें जिनमें पहले 'बहुत मजा' आता था वे अब निरर्थक लगने लगती है।

यही तो है संन्यास जो कि कर्म के बाद ही सहज रूप से आता है। अपना घर न होने के कारण सड़क पर सोने वाले तो 'बेचारे' कहलाते हैं, 'वैरागी' नहीं। जबरन तो दमन होता है संन्यास नहीं। यह बात और है कि वैराग्य की इस सीढ़ी तक तो कमोवेश प्रकृति प्रदत्त स्वभाव के वशीभूत हो

कर सभी पहुंच जाते हैं पर उसके आगे की यात्रा के लिए कदम नहीं बढ़ाते।

इस श्लोक में तो हमें यही देखना है कि कर्म मार्ग ही हमें सहज रूप से ज्ञान मार्ग को ले जाता है और भगवान कहते हैं **यः पश्यति स पश्यति–** ऐसा जो देखता है वही देखता है। यहां देखने का अर्थ चर्म चक्षुओं से नहीं, ज्ञान चक्षुओं से देखना है। अर्थात् हम जीवन के सत्य पर दृष्टिपात करें, चिंतन करें, निष्कर्ष निकालें और जो समझ में आता है उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न भी करें।

कर्म ही हमें संन्यास का अधिकारी बनाता है यह बात भगवान अगले श्लोक में और स्पष्ट रूप से बताते हैं–

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।।६।।

परन्तु हे महाबाहो, (कर्म) योग के बिना (कर्म) संन्यास प्राप्त होना कठिन है। जबकि मनन करने वाला योगयुक्त पुरुष शीघ्र ही परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

इस श्लोक से बिल्कुल स्पष्ट है कि कर्मयोग के बाद ही ज्ञान की सीढ़ी पर पैर रखा जा सकता है और फिर शांति स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति में देर नहीं लगती। यही शार्ट कट है, इसी का अनुसरण करने पर ही हम जल्दी से जल्दी अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

इस श्लोक में युक्त शब्द का प्रयोग हुआ है जो महत्वपूर्ण है, इसे अच्छी तरह समझ लें। युक्त पुरुष वह है जिसके मन और बुद्धि में पूर्ण समन्वय हो। हम सभी अयुक्त हैं। हममें से कौन ऐसा है जिसके पास बड़ी-बड़ी योजनाएं नहीं, जो ऊंची-ऊंची बात नहीं सोचता? बुद्धि तो सब बातें अच्छी-अच्छी ही कहती हैं पर उसका काम तो केवल योजनाएं बनाना, विचार करना ही है। इन्द्रियों से उनको क्रियान्वित कराने का काम तो मन का ही है और अफसोस है कि मन बुद्धि का साथ देने को तैयार नहीं रहता।

हम सबको मालूम है कि क्या करना चाहिए, पर क्या करें, मन नहीं करता। परीक्षा के दिन चार बजे भोर में उठना है, अलार्म तक लगा देते हैं, अलार्म नियत समय पर बज भी जाता है पर हम उसे बन्द करके और अधिक दुबक जाते हैं रजाई में- जरा पांच मिनट और सोने के लिए, ऐसे पांच मिनट, जो दो घंटे में पूरे होते हैं। लेकिन जो युक्त पुरुष है, उसकी बुद्धि ने जो निर्णय लिया, मन उसके लिए सदा तैयार रहता है अर्थात् वह जो चाहता है वही कर लेता है, वही पाने में सफल हो जाता है। भगवान यहां योगयुक्त शब्द का व्यवहार करते हुए बता रहे हैं कि यह युक्तता कर्म योग से आती है। मन को बुद्धि से अयुक्त करने वाली हैं उसकी वासनाएं, और कर्मयोग से वासनाओं का क्षय होता है। जब मन बुद्धि युक्त होते हैं तभी हमारी बुद्धि जब चाहे मन को विषयों में भ्रमण करने से रोककर मनन, चिंतन और ध्यान में लगा सकती है अन्यथा ध्यान संभव नहीं।

भगवान कहते हैं कि युक्त पुरुष मनन करना आरंभ कर देता है तो ब्रह्म की प्राप्ति में देर नहीं लगती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि (१) कर्म योग के बाद ही संन्यास साधना संभव है और (२) संन्यास की स्थिति प्राप्त कर लेने के बाद ब्रह्मानुभूति में समय नहीं लगता।

वास्तविक साधना कर्मयोग के द्वारा चित्त को शुद्ध करना ही है। इसी में हमारा पुरुषार्थ काम आता है। इसके बाद तो कुछ करना नहीं पड़ता सब कुछ अपने आप होने लगता है। हम संसार में काम, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत होकर कर्म कर रहे हैं, वास्तविक साधना, सबसे कठोर और महत्वपूर्ण तप यही है कि हम इनका त्याग कर कर्म करने की आदत डालें। यही सबसे मुश्किल काम है अतः साधना करनी है तो गृहस्थी और संसार से अधिक उपयुक्त स्थान कोई नहीं है। हिमालय में जाकर साधना करने की सोचेंगे तो मन के राग-द्वेष तो छूटेंगे तो नहीं, लोग छूट जाएंगे। हम किससे राग-द्वेष करें? ऐसे में हमें भ्रम हो जाएगा कि अंतःकरण की शुद्धि हो गई है पर वास्तव में होगी नहीं। और शुद्धि नहीं तो संन्यास नहीं। जो अज्ञानी हैं उसके लिए राग-द्वेष छोड़ने के लिए कर्मयोग की साधना आवश्यक है लेकिन जो ज्ञानी है उसके लिए उसके लिए यह सहज स्थिति है। लोभी व्यक्ति के लिए झूठ न बोलना बहुत मुश्किल बात है लेकिन जो शुद्ध हृदय

वाला है वह तो सहज रूप से सत्य ही बोलेगा। उसे तो झूठ बोलने के लिए परिश्रम नहीं करना होगा, वह झूठ बोल ही नहीं पाएगा।

इसीलिए भगवान कहते हैं कि कर्मयोग की साधना करो, इसके बिना संन्यास सध ही नहीं सकता और इसके द्वारा संन्यास साधना सरल है और उसके आगे फिर ब्रह्म की प्राप्ति तो बहुत ही सरल- कुछ करना ही नहीं पड़ेगा। यही शार्ट कट है, यही सबसे छोटा, सबसे आसान तरीका है। अपने अज्ञान के कारण हमें लगता है कि यह तो बहुत मुश्किल काम है। हम तो सीधे ही ध्यान लगाना चाहते हैं, अपने राग-द्वेष, अहंता-ममता, काम-क्रोध, लोभ-मोह की विशाल गठरी को लादे-लादे ही साधना पथ पर दौड़ लगाना चाहते हैं, गिरेंगे नहीं तो और क्या होगा? गठरी खोल कर फेंके बिना हम कभी नहीं जीत पाएंगे, यह समझना बहुत ही आवश्यक है।

अगले श्लोक में भगवान बता रहे हैं कि कर्मयोगी साधना के पथ पर कैसे एक-एक कदम आगे बढ़ाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।७।।

जो योगयुक्त है, जिसका चित्त शुद्ध है, जिसने अपने आप को जीत लिया है, जिसकी इन्द्रियां उसके वश में हैं जो सभी प्राणियों में एक ही आत्मा को देखता है वह कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होता।

यहां कर्मयोग की चरणबद्ध साधना के साथ-साथ एक ही श्लोक में भगवान उसका चरम फल भी बता रहे हैं।

कर्म तो सभी करते हैं पर कर्मयोगी कर्म के उत्साह को बरकरार रखते हुए फलासक्ति और भोग की कामना को हटा देता है। इससे मन बुद्धि पर वासना का बोझ कम होता है। मन तो वासनाओं के कारण ही बुद्धि को तलाक देकर इधर-उधर भटकता है। वासना का बोझ कम होने पर वह बुद्धि से युक्त हो जाता है। तब बुद्धि शांतिपूर्वक निर्णय ले पाती है, उसके निर्णयों में राग-द्वेष का कलुष नहीं होता। मन के रास्ते से राग-द्वेष के प्रवेश

के कारण ही बहुधा हमें शत्रु मित्र लगने लगते हैं और मित्र शत्रु। अनुचित बात उचित जान पड़ती है और उचित बात अनुचित। ये सारे कलुष हट जाते हैं तो बुद्धि निर्मल हो जाती है जिसे भगवान ने विशुद्धात्मा नाम दिया है।

निर्मल बुद्धि के निर्णय विवेकपूर्ण होते हैं और कामनाओं के न होने के कारण मन भी बुद्धि के वश में होता है अतः बुद्धि जो कहती है मन उसे मानने को तैयार रहता है। ऐसा व्यक्ति विजितात्मा है।

और इसके बाद तो जितेन्द्रियता सरलता से आएगी ही। इन्द्रियों को विषयों के पीछे भागने से रोकना अत्यंत सहज होगा क्योंकि विषयों में उन्हें धकेलने वाला मन ही तो है। वही किसी वस्तु में सुख खोजता है तो इन्द्रियों को प्रेरित करता है कि चाहे जो भी करना पड़े, उस वस्तु की प्राप्ति करनी ही है।

इस प्रकार कर्मयोग के द्वारा शरीर, मन, बुद्धि तीनों स्तरों पर निग्रह हो जाने के बाद योगी ध्यान के लिए अविचल होकर बैठ पाएगा। न इन्द्रियों की विषयासक्ति, न मन की कामनाएं, न बुद्धि की बड़ी-बड़ी योजनाएं। शरीर मन बुद्धि की समस्त क्रियाएं रुक जाती हैं तभी साधक उनसे परे जा सकता है। सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत तीनों अवस्थाओं से यह बिल्कुल भिन्न अवस्था है जो शरीर मन बुद्धि के स्तर पर जानी ही नहीं जा सकती। न इन्द्रियों द्वारा देखी-सुनी जा सकती है, न मन द्वारा महसूस की जा सकती है, न बुद्धि द्वारा समझी जा सकती है। इसी तुरीयावस्था को प्राप्त करने के बाद साधक सिद्ध हो जाता है। उसे अपने में तथा सभी प्राणियों में भी एक ही आत्मा के दर्शन होते हैं। यही चरम ज्ञान है, यही सिद्धावस्था है जिसमें उसका अहं पूर्णतः विलुप्त हो जाता है।

भगवान कहते हैं कि ऐसा व्यक्ति कुछ भी करे, उसे कर्मों का लेप नहीं लगता। सामान्य जीवन में भी हम देखते हैं - किसी ने हमें लात मार दी, हमें बहुत जोर से नाक पर लगी, हम तिलमिला उठे। लेकिन फिर हमने देखा कि मारने वाले तो नाक बज रही है, वह मन बुद्धि की सामान्य अवस्था से परे हैं, हमारी कसी हुई मुट्ठियां ढ़ीली पड़ जाती है, हम मुक्का मारने की योजना त्याग देते हैं और वह व्यक्ति लात मारने की क्रिया के लेप से बच जाता है।

अपने विभिन्न कर्मों के प्रति ज्ञानी पुरुष अर्थात् सांख्य योगी का दृष्टिकोण क्या रहता है यह भगवान अगले दो श्लोकों में बता रहे हैं-

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यन्शृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ।।८।।
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।९।।

देखने, सुनने, छूने, सूंघने, खाने, जाने, सोने, सांस लेने, बोलने, विसर्जित करने, ग्रहण करने, पलकें खोलने और बंद करने में भी युक्त और तत्वदर्शी पुरुष यही सोचता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। उसकी यही धारणा होती है कि ये तो इन्द्रियां हैं जो विषयों में व्यवहार कर रही हैं।

यह ज्ञानी पुरुष की दृष्टि है जिसने तत्व को जान लिया है, जिसने आत्मा के सत्य को पहचान लिया है। वह जानता है कि शरीर मैं नहीं हूं, अत: इसकी क्रियाएं भी मेरी नहीं है। मैं तो इन सब इन्द्रियों, विषयों और उनके आपसी व्यवहार का द्रष्टा हूं, साक्षी चैतन्य हूं, मेरा वास्तविक स्वरूप आत्मा है जो स्वयं कुछ नहीं करती, जिसकी उपस्थिति में सब कार्य हो रहे हैं। यही स्थिति है सहज समाधि की, जो तत्वज्ञानी के लिए हमेशा प्राप्य है। साधना की अवस्था में यह विचार सहज नहीं रह पाता लेकिन सिद्ध के लिए यही सहज है। सूर्य सहज रूप से सबको प्रकाश देता है, जाड़े में परोपकार और गर्मी में क्रोध के कारण ताप नहीं बिखेरता। उसके सामने जा कर कोई प्रशंसा के पुल बांधे कि आप बड़े महान हैं, आप अंधेरे को दूर भगा देतें हैं तो वह आश्चर्य में पड़ जाएगा। वह कहेगा, 'मैंने क्या किया है? मैंने तो आज तक अंधेरे को देखा भी नहीं है।' यही सिद्ध ज्ञानी की दृष्टि है जो सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता।

यहां भगवान ने शरीर की सभी क्रियाएं गिना दी हैं। तात्पर्य यह है कि कार्य वह सामान्य व्यक्ति की भांति करता है लेकिन अहंता नहीं होती। वह समझता है कि उसकी इन्द्रियां अपने-अपने क्षेत्र में व्यवहार करती हुई

कर्म कर रही हैं। ये कर्म मेरे शरीर के द्वारा आत्मा की उपस्थिति में हो तो अवश्य रहे हैं पर इन्हें करने वाला मैं नहीं।

ऐसा व्यक्ति बंधन मुक्त, नित्य स्वच्छन्द ही रहता है। 'मैंने किया' के भाव से अधिक थकाने वाला और कुछ नहीं। उड़ता हवाई जहाज है लेकिन 'मैं कितनी दूर से आया हूं, मैंने कितनी लम्बी यात्रा की है' यह विचार ही कहता है- 'आराम की जरूरत है।' रोजमर्रा के जीवन में भी कितने ही काम होते हैं जो हम सहज भाव से अभ्यास के मुताबिक करते हैं और हम याद करने बैठें तो भी हमें याद नहीं आते कि हमने आज फलां-फलां कार्य किए लेकिन खुदा न ख्वास्ता एक ग्लास पानी किसी को पिलाने के समय भी यह विचार आ गया कि पानी ला-लाकर भी मुझे ही देना पड़ता है तो बस हम ऐसे चक्कर में पड़ जाते हैं कि नींद की गोली तक लेनी पड़ती है। यह है हमारी वर्तमान अवस्था। ऐसे में हम सीधे इस स्थिति तक पहुंच जाएं कि मैं तो कुछ भी करने वाला हूं ही नहीं - यह कैसे सम्भव है? इसलिए हमें तो इस प्रकार की अहंता को निकाल भगाने का लम्बा अभ्यास करना होगा।

इस अभ्यास के विषय में ही भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।१०।।

जिस प्रकार कमल-पत्र जल से अलिप्त रहता है उसी प्रकार संग को त्याग कर, सभी कर्मों को ब्रह्म को अर्पित करते हुए कार्य करता हुआ व्यक्ति पाप से लिप्त नहीं होता।

कमल का फूल जल से उत्पन्न होता है, जल में ही स्थित रहता है और जल में ही विलीन हो जाता है, लेकिन इतना सब कुछ होने के बाद भी जल उस पर ठहर नहीं पाता। भगवान भी गीता में ऐसे सिद्ध का वर्णन करते हैं जो हिमालय में नहीं बल्कि संसार में ही रहता है, यहीं कर्म करता है लेकिन संसार और कर्मों के दोष से अछूता रहता है।

कर्म का दोष न लगे इसका एक उपाय तो असंगता है ही। पहले भी इसका वर्णन काफी आ चुका है। संसार की वस्तुओं और व्यक्तियों के साथ हमारा संग होता है। यह संग, यह बंधन शारीरिक नहीं मानसिक है। हमें अज्ञान के कारण भ्रम हो जाता है कि फलां वस्तु या अमुक व्यक्ति के बिना हम अधूरे हैं, 'तेरे बिना जीना कैसा' यही भ्रम हमें उस व्यक्ति या कुत्ते, बिल्ली, धन, जेवर, फर्नीचर, अपने लगाए पौधे तक के साथ बांध देता है। हमारा मन उन्मुक्त हो कर कुछ कर ही नहीं पाता क्योंकि इसकी डोर तो कितनों के साथ बंधी है, कभी कोई दाएं खींचता है तो कभी कोई बाएं। ऐसे में संतुलन बने कैसे? अत: संग अर्थात् मोह-ममता को त्यागना अत्यन्त आवश्यक है।

लेकिन व्यवहारिक रूप से सभी का मोह छोड़ना मन के लिए संभव नहीं। जब तक मन है, इसे कुछ न कुछ चाहिए ही। छोटे बच्चे ने पापा की घड़ी खेलने के लिए उठा ली है तो उसे टॉफी देना ही होगा तभी वह घड़ी छोड़ेगा। मन को इन सबसे छुड़ाना है तो उसे ब्रह्म से जोड़ना होगा।

इस विशाल संसार में हम तो सेठ के मुनीम है। मुनीम प्रति दिन लाखों रुपयों का लेन-देन करता है। सेठ जी ने उसे काफी अधिकार भी दे रखे हैं जिनका उपयोग कर वह व्यापार संबंधी कुछ निर्णय भी ले लेता है लेकिन नोटों की गड्डियां गिनते वक्त उसकी दृढ़ धरणा होती है कि सब सेठ जी का है, मुझे यह पद, ये अधिकार सेठजी ने दिए हैं और मैं जो कर रहा हूं सेठजी के लिए कर रहा हूं। यह धारणा जब तक दृढ़ रहती है, दिन भर के हजारों रुपए रात को तिजारी में बंद कर खाली हाथ घर जाने में उसे कष्ट नहीं होता, उन रुपयों के चोरी हो जाने पर भी उसे दिल का दौरा नहीं पड़ता। पूरी निष्ठा के साथ काम करते हुए भी व्यापार के नफे नुकसान से भी उसे कोई टेंशन नहीं होता। टेंशन में वह दो कारणों से पड़ता है।

(१) जब उसकी नौकरी के पैसे कोई छीन कर भाग जाए क्योंकि 'यह पैसा मेरा है'।

(२) जब सेठजी के रुपए चुपचाप वह अपने निजी कार्य के लिए लगा ले क्योंकि यह उसके अधिकार का उल्लंघन है।

हमें भी कर्म करने की सारी शक्तियां भगवान की दी हुई हैं,

हमारा कार्यक्षेत्र भी हमारा नहीं, जिसने हमें जिसने ये सब कुछ दे रखा है हम तो उसके लिए 'काम करने वाले' हैं। यही है ईश्वर को अर्पित करते हुए कर्म करने की बुद्धि। इससे हमारी कर्म-निष्ठा और कार्य-कुशलता भी बनी रहेगी और कर्म के बंधन अर्थात् तनाव, लोभ, अहंता, भोगेच्छा आदि हमें छू नहीं पाएंगे।

इस प्रकार सातवें श्लोक में कर्मयोगी की निर्लिप्तता और आठवें, नवें, दसवें श्लोक में सांख्य योगी (संन्यासी) की निर्लिप्तता बता कर भगवान स्पष्ट कर देते हैं कि कर्मयोगी भोक्ताभाव को त्याग कर जो स्थिति प्राप्त करता है वही स्थिति संन्यासी कर्त्ताभाव को त्याग कर प्राप्त कर सकता है अतः दोनों मार्ग वस्तुतः एक ही हैं।

पुनः कर्म योगी का मनोविज्ञान बताते हुए भगवान कहते हैं :-

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

संग त्याग कर योगी जन केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं।

पिछले श्लोक के अनुसार सब कुछ ईश्वर का है मानकर ईश्वर के लिए कर्म करने की भावना दृढ़ कर लें तो कर्तापन का त्याग तो हो जाएगा लेकिन भोक्तापन का कुछ भाव तो बना रह ही रहेगा। 'कुछ तो मुझे भी मिलना चाहिए, मेरा कुछ भी नहीं तो मैं कर्म करूं किसलिए?' यह विचार जब तक सूक्ष्म रूप से भी बना रहेगा तब तक शांति नहीं मिल सकती इसीलिए यहां भगवान इस विचार को दृढ़ करने के लिए कहते हैं कि मैं जो कर्म कर रहा हूं यह आत्मशुद्धि के लिए है।

अपने विचारों का आत्मनिरीक्षण करना आरम्भ कर दें तो हम पाएंगे कि 'मैं ही क्यों करूं' नामक विचार तो हमें बहुत अशांत करता है। प्रायः हम सभी को लगता है कि हम स्वार्थी, लालची और आलसी लोगों से घिरे हुए हैं, सब का अपना-अपना मतलब सधना चाहिए, दूसरा

मर रहा है कि जी रहा है इसकी किसी को परवाह नहीं। 'मैं ही क्यों करूं? मुझे ही क्या पड़ी है?' और यह विचार न हमें खुशी-खुशी कुछ करने देता है न बिना किए शांत रहने देता है। न करने से तो मानसिक अशांति के साथ-साथ भौतिक हानि भी हो जाती है यानी दुहरी चपत लगती है। तो फिर क्या करें? कैसे शांत करें अपने आपको? इसी का व्यवहारिक उपाय यहां बताया गया है।

हमें यह समझना चाहिए कि हमें जो संसार मिला है, जो कार्य क्षेत्र मिला है यह परम ज्ञान स्वरूप ईश्वर ने हमारे लिए स्पेशल आर्डर करके बनवाया है ताकि हम अपने आप को सुधर सकें। हमें लगता है 'जिस चीज से मुझे चिढ़ है वही मुझे क्यों मिलती है? जो बात मुझे बिलकुल पसन्द नहीं वही मेरे जीवन में क्यों बार-बार आती है?' यह सब इसीलिए है कि हमारी अपनी आत्मशुद्धि हो। हम पसन्द-नापसन्द के द्वन्द्वों से ऊपर उठ कर मन को शांत रखना सीख सकें। यह संसार जैसा है वैसा ही रहेगा, वैसा ही रहना चाहिए, हमारा काम दूसरों को सुधारना नहीं, आपने आप को सुधारना है। भगवान की रचना में नहीं, अपने में दोष ढूंढ़ना है।

हमारे पैर में चोट लगी। घाव ठीक हो जाने पर भी दर्द रह गया। डाक्टर ने हमें एक्सरसाइज बताई। हमें एक यंत्र के सहारे व्यायाम करना है। व्यायाम करते वक्त पैर में उसी स्थान पर दर्द होता है जहां हमें चोट लगी थी। हम झल्लाएं, भुनभुनाएं, मशीन को कोसें कि ठीक से काम नहीं करती, ठीक वहीं दर्द कराती है जहां चोट लगी है। या डाक्टर को कोसें कि पैर में चोट है और पैर ही से व्यायाम करा रहा है, हाथ से करा ले तो उसका कुछ बिगड़ जाएगा क्या?

हाथ का व्यायाम करने में आरामदायक तो हो सकता है पर पैर ठीक नहीं होगा। हमें भी सब कुछ अपने मन लायक मिलता रहे तो हमें मजा तो आता रहेगा पर आत्मशुद्धि नहीं होगी। बच्चे से पतंग छुड़ा कर पुस्तक में लगाने में उसकी माता की शुभेच्छा और दूरदर्शिता है। लेकिन हम समझते हैं-'भगवान को पता नहीं मुझसे ही क्या दुश्मनी है?'

इस प्रकार आत्मशुद्धि रूपी कर्मफल को सामने रखते हुए कार्य करने से कर्मों के साधारण फल की स्पृहा नहीं होगी। हमें बड़ा लाभ नजर

आने लगेगा तो छोटी हानि उठा पाएंगे, फल को त्यागना हमारे लिए सहज हो जाएगा। तब क्या होगा ? भगवान कहते हैं-

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।। १२।।

युक्त (कर्मयोगी) पुरुष कर्म फल को त्याग कर अत्यन्त शान्ति को प्राप्त हो जाता है जबकि अयुक्त (सकाम व्यक्ति) फल में आसक्त हो (अपनी) कामना से बंध जाता है।

कर्मफल के त्याग से आत्मशुद्धि होगी जिससे अत्यन्त शांति की प्राप्ति होगी। मन के निग्रह का कितना सुंदर व्यवहारिक उपाय गीता हमें बताती है! फ्रायड के पाश्चात्य मनोविज्ञान और भारतीय मनोविज्ञान में यही सबसे बड़ा अंतर है। फ्रायड ने यह बताया कि संवेग के रूप में कामनाएं अचेतन मन में उठती हैं और वह उसे चेतन मन को भेज देता हैं। चेतन मन वैयक्तिक स्तर पर या समाज के मापदण्ड के अनुसार उसे जांचता परखता है और उपयुक्त न जान पड़ने पर वापस भेज देता है जहां वह दमित हो जाती है। दमित होने पर वह मनोग्रंथि को जन्म देती है। मनोग्रंथियों के बहुत बढ़ जाने पर कुंठा होती है और व्यक्ति मनोरोग का शिकार हो जाता है। उसने स्पष्ट किया कि मनुष्य के अधिकांश शारीरिक रोगों का कारण भी दमित कामनाओं के कारण उत्पन्न मनोग्रंथियां हैं। उसने रोगियों पर प्रयोग किए, उनके चेतन मन को सम्मोहन के द्वारा निष्क्रिय कर अचेतन को उभारा तथा दमित कामनाओं की पहचान की। वे कामनाएं पूरी होने पर रोग ठीक हो गया। इस प्रकार मनोरोगों की पहचान और इलाज आरम्भ हुई।

फ्रायड की यह देन महान है लेकिन इसमें अपूर्णता है। कामनाओं का दमन ठीक नहीं यह तो उन्होंने बता दिया पर यह नहीं बता सके कि अनुचित कामनाओं के लिए क्या किया जाए। यदि किसी दूसरे की पत्नी को देखकर काम-संवेग पैदा होता है तो उसकी पूर्ति करें या दमन? पूर्ति को क्या समाज स्वीकार करेगा? क्या इसका परिणाम और खराब नहीं होगा? कामनाओं की निर्बाध पूर्ति ने कैसी विकृतियों को जन्म दिया है यह तो हम

पाश्चात्य समाज में देख रहे हैं।

इस प्रकार फ्रायड ने रोगों के कारण की पहचान अवश्य करा दी पर वे ऐसा कोई हल नहीं सुझा पाए कि कामनाएं समाप्त भी हो जाएं और दमन भी न हो। मन के विखण्डन की प्रक्रिया उन्होंने बता दी लेकिन निग्रह का विज्ञान नहीं बता पाए जिससे वह शांत हो जाए।

वही विज्ञान गीता ने फ्रायड से बहुत पहले ही बताया है। ईश्वर को अर्पित करते हुए तथा आत्मशुद्धि के लक्ष्य को सामने रख कर कर्म करने से फल की कामना अपने आप छूट जाएगी और हमें मनोरोगों की नहीं बल्कि आत्यन्तिक शांति की प्राप्ति भी होगी।

भगवान कहते हैं कामना ही हमें फल से आसक्त बनाती है और हम बंधन में पड़ते हैं। यह कामना शारीरिक मानसिक बौद्धिक कुछ भी हो सकती है। हम विषयों के भोग की कामना करें या किसी से प्रेम करें या किसी से प्रेम पाने की इच्छा रखें अथवा यश, मान, प्रसिद्धि पाने और दुनिया को कुछ करके दिखा देने की महत्वकांक्षाएं, हमें अपनी सम्पत्ति, अपने प्रियजन अथवा कार्यक्षेत्र की आसक्ति बांधेगी अवश्य। इसका अर्थ यह नहीं कि हम महत्वकांक्षा रखें नहीं। पहले ही विकास का क्रम स्पष्ट किया जा चुका है कि आलसी और सुस्त व्यक्ति महत्वाकांक्षी बने और वहीं तक सीमित नहीं रहें, कार्य के प्रति निष्ठा और लगन बनाए रखते हुए आकांक्षा हटाने का प्रयत्न करें।

अपनी आत्मशुद्धि के लक्ष्य को सामने रख कर निरन्तर कर्म करते रहने से कर्मयोगी शांति प्राप्त कर लेता है। यही शांति-सुख संन्यासी अर्थात् ज्ञानी कैसे प्राप्त करता है यह भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।१३।।

संयमी पुरुष मन से सभी कर्मो का संन्यास करते हुए न ही कुछ करता है न (शरीर और इन्द्रियों से) कुछ करवाता है। देही के रूप में नवद्वार के नगर में वह सुख पूर्वक रहता है।

हमारे शरीर को नवद्वार का पुर (नगर) कहा गया है, क्योंकि इसमें नौ छिद्र हैं - दो आंख, दो कान, दो नासिका, मुह एवं प्रजनन एवं विसर्जन के द्वार। जैसे नगर की चारदीवारी में द्वार होते हैं तो उन्हीं से जनता आती-जाती है, अत: उन्हें बिलकुल बंद भी नहीं किया जा सकता। इन्हीं द्वारों से शत्रु भी प्रवेश कर सकते हैं, अत: सजगता भी बहुत जरूरी है। इनकी ओर से उदासीन रहकर चैन की वंशी बजाने वाला राजा ज्यादा दिन सुख से रह नहीं सकता और हर वक्त कभी किधर से, कभी किधर से हमला होने का भय हो तो टेंशन में रहना ही होगा।

हम भी इस नवद्वार की देह के देही हैं। कभी-भी, किसी भी क्षण, किसी भी ओर से विषयों का प्रवेश तथा आक्रमण हमारी नींद हराम कर सकता है। हम इस शरीर में रहते अवश्य हैं, लेकिन कभी भी चैन नहीं मिलता। भोजन करते वक्त ऑफिस की, ऑफिस के काम के वक्त बच्चों की चिन्ता सताती रहती है, न हम शांति से खा पी पाते हैं, न सो पाते हैं न काम ही कर पाते हैं।

भगवान कहते हैं कि जो संयमी है, जिसने मन से कर्मों का त्याग कर दिया है अर्थात् आसक्ति छोड़ दी है, जो कर्त्ता-भाव को त्याग कर द्रष्टा भाव से जीवन जीता है अर्थात् अपने कर्मो के प्रति यह भाव रखता है कि मैं न कुछ करने वाला हूं, न करवाने वाला; तो वैसा पुरुष इस नवद्वार के पुर में रहता हुआ भी तनावग्रस्त नहीं होता, वह सुखपूर्वक रहता है। वह सोते समय सुख पूर्वक सोता है, कार्य करते समय उत्साहित रहता है और खाते वक्त दवाओं की गोलियां नहीं खाता।

मनुष्य का सत्य स्वरूप आत्मा ही है इस शरीर के साथ उसका सम्बन्ध वैसा ही है जैसा परमात्मा का जगत के साथ। एक ओर तो कहते हैं कि वह अकर्त्ता है यानि न कुछ करने वाला, न करवाने वाला और दूसरी ओर कहा जाता है कि दुनिया के सारे खेल उसी के रचे हुए हैं और जीव के कर्मो के फल का प्रदाता भी वही है। इस विरोधाभास का तात्पर्य क्या है, यह समझने का प्रयत्न करें।

दरअसल एक ही बात यदि दो अलग-अलग दृष्टिकोण से कही जाती है तो अलग-अलग लगती है। 'भगवान सब कुछ करने वाले हैं' यह

भक्त का दृष्टिकोण का है। 'मैं कुछ करने वाला नहीं' यह भगवान का दृष्टिकोण है।

इसे स्पष्ट समझने के लिए हम सूर्य का उदाहरण देंखे। हम सभी प्रतिदिन देखते हैं कि सूर्योदय होता है तो सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है, कमल खिलने लगते हैं आदि-आदि। हमारे लिए इन सबका कारण सूर्य है, अतः हम श्रद्धा के साथ शीष नवाते हुए कहते हैं, 'हे सूर्य देव, हम तुम्हारा अभिनन्दन करते हैं, क्योंकि तुम अंधेरे को दूर भगाते हो, हमें ऊर्जा देते हो, कमल खिलाते हो।' लेकिन सूर्य का दृष्टिकोण देखें। वह कहेगा मैं तो न अंधेरे के पीछे लाठी लेकर दौड़ता हूं, न फूलों के पास जाकर पंखुरियां खोलता हूं। मैं कुछ भी नहीं करता। हां, यह सत्य है कि मेरी उपस्थिति में सब कुछ होता है। यदि सूर्य न हो तो प्रकाश नहीं होगा, लेकिन सूर्य थाली में ला कर प्रकाश परोसता नहीं।

इसी प्रकार परमात्मा की सत्ता के कारण ही सब कुछ होता है, सृष्टि के सभी भूतों का, सभी कर्मों का, सभी नियमों का, सभी कर्म फलों का अधिष्ठाता वही है, वह न हो तो कुछ भी नहीं होगा, पर वास्तविकता यह है कि न वह कर्त्ता है, न कर्म और न ही कर्मफल प्रदाता।

यही संबंध हमारे शरीर-मन बुद्धि तथा आत्मा का है। आत्मा की उपस्थिति के कारण ही शरीर मन बुद्धि की विभिन्न क्रियाएं होती है। हम योजनाएं बनाते हैं, कर्म करते हैं, फल की आकांक्षा रखते हैं, उन्हें भोगते हैं, लेकिन यह सब करने वाला वास्तव में आत्मा नहीं ।

तो फिर कौन है इन सबका कारण? भगवान ने इसका उत्तर दूसरी पंक्ति के उत्तरार्द्ध में दिया है। ये सारे व्यवहार होते हैं वासना के कारण। आत्मा तो सभी में एक है। यदि आत्मा या परमात्मा ही कार्य कराने वाले होते तो एक परिस्थिति में सभी लोग एक जैसा कर्म ही करते। लेकिन आग लगी देखकर एक तो सर पर पैर रख कर भाग खड़ा होता है और दूसरा उसमें फंसे बच्चे को बचाने के लिए अपनी जान की परवाह किए बिना ही कूद जाता है। क्यों? जीवन तत्व एक ही है, लेकिन स्वभाव में अन्तर है। स्वभाव यानी अपनी वासना, अपने संस्कार, जिसके अनुसार हम कार्य करते हैं और सुख दुख भोगते हैं। इसी वासना को भक्ति शास्त्र में माया कह

देते हैं। भक्त कहते हैं- सबको नचाने वाली भगवान की माया है। इसी विचार को आगे बढ़ाते हुए भगवान कहते हैं-

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।१५।।

सर्वव्यापी ईश्वर न तो किसी के पापकर्म को ग्रहण करता है, न किसी के शुभ कर्म को। अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढंका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं।

यहां ईश्वर के लिए विभुः शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है सबमें व्याप्त होने वाला। तात्पर्य यह है कि परमात्मा सबमें निवास करते अवश्य हैं, पर मात्र साक्षी भाव से। वे हमें न पाप के लिए प्रेरित करते हैं, न पुण्य के लिए। यह तो हमारा अज्ञान है जिसके कारण हम सत्य को जान नहीं पाते और सत्कर्मों का प्रेरक मानकर उसकी स्तुति और पापकर्मों का प्रेरक मानकर निन्दा करते रहते हैं।

ये दोनों श्लोक बड़े विचारणीय हैं। संसार में ईश्वर की निंदा करने वालों और अपने को गर्व से नास्तिक कहने वालों की कमी नहीं। एक बार ट्रेन में सहयात्री बातें कर रहे थे। एक ने छाती फुलाकर कहा-'मैं भगवान-वगवान को नहीं मानता।' दूसरे ने चट से पाकेट से भगवान की एक फोटो निकाली और कहा- 'हिम्मत है तो इस पर थूक कर दिखा दो।' वह आदमी बगल में झांकने लगा। अब तो सभी पीछे पड़ गये, 'तुम्हारे लिए तो यह कागज का एक छोटा सा टुकड़ा है, थूक दो, क्या होगा? उसने कहा- 'मैं भगवान को मानता नहीं, लेकिन थूकूंगा तो नहीं।' अगला स्टेशन आते ही वे महाशय वहां से गायब हो गए।

तो संसार में ऐसे स्वघोषित नास्तिकों की कमी नहीं। ईश्वर के प्रति उनके अविश्वास या अश्रद्धा के लिए उनका प्रमुख तर्क यही होता है कि ईश्वर है तो संसार में किसी के लिए सुख किसी के लिए दुख क्यों है? दुख तो होना ही नहीं चाहिए। जो दुख देता है, उसे हम क्यों पूजें। और सच

पूछें तो भगवान की श्रद्धापूर्वक पूजा करने वालों के मन के भी किसी किसी न किसी कोने में यह प्रश्न रहता अवश्य है।

यहां भगवान स्पष्ट कह रहे हैं कि वे अच्छा-बुरा काम करने वाले भी नहीं है, फल देने वाले भी नहीं हैं। सब कुछ जीव के अपने-अपने स्वभाव के कारण घट रहा है और अज्ञानवश वह वास्तविकता को समझ नहीं पाता।

दु:ख क्यों? इसका उत्तर ढूढने के लिए भगवान के स्थान पर स्वयं को या अपने स्थान पर भगवान को रखकर देखने का प्रयत्न करें। हमने अपना घर बनाया है, हमारे बच्चे हैं। यह हमारा रचा हुआ संसार है जिससे हमें बेहद प्यार है। हम सभी का हित चाहते हैं। सभी बच्चों से अत्यन्त प्रेम करते हैं, लेकिन सबके स्वभाव अलग-अलग हैं। हम किसी को दुखी देखना नहीं चाहते, इसलिए उन्हें शिक्षित करने का प्रयत्न करते हैं, अनुशासन सिखाते हैं। उन्हें बताते हैं कि सबसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए, अतिथि का सम्मान करना चाहिए। हमारा बड़ा बेटा घर आए अतिथि की पतलून चुपचाप पीछे से काट डालता है। क्या उसके हितैषी माता-पिता इतने पर भी उसे गोद में बैठाकर मिठाई खिलाएंगे और दुलारेंगे? क्या दुष्कर्म करने वाले के लिए दण्ड का विधान रचना क्रूरता है?

हमने बच्चों के खेलने लिए सुन्दर छत बनाई है, उसमें चारों और तीन फुट ऊंची मुंडेर भी है। बच्चों को समझाते आ रहे हैं कि उसपर उचककर झुकना नहीं। इतने पर भी दूसरा बेटा उस मुंडेर पर ही खड़ा होकर संतुलन का खेल दिखाने की कोशिश करता है। नीचे गिर जाने के कारण बहुत गहरी चोट आ जाती है, महीनों तकलीफ पाना पड़ता है। माता-पिता दयालु हैं, समझदार हैं तो बच्चे को यह तकलीफ क्यों? उन्होंने छत बनाई ही क्यों? क्या इसके उत्तर है किसी माता-पिता के पास?

माता-पिता तो यही कहेंगे कि ये अपने-अपने स्वभाव के कारण यह सब भोग रहे हैं, एक दुष्टता के कारण, दूसरा शरारती स्वभाव के कारण तकलीफ पा रहा है, हम क्या कर सकते हैं? ईश्वर द्वारा रचित इस संसार में अपने-अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करते हुए हम सुख-दु:ख भोग रहे हैं। भगवान तो हमें गीता में कितने निर्देश दे रहे हैं- 'ऐसे करोगे तो नीचे

गिरोगे। वैसे करोगे तो अत्यंत शांति का उपभोग करोगे।' हम सुनते कहां हैं? दंड का विधान न हो तो क्या सृष्टि चल पाएगी? हम दूसरों को दु:ख दें, शोषण करें, दूषित खान-पान करें और बदले में हमें धन के साथ-साथ शांति और स्वस्थ काया भी मिली रहे तो उन बेचारों का क्या होगा जिसका हमने शोषण किया है, जिन्हें हमने सताया है? बुरे कर्मों का फल बुरा होता है, यह जानते-बूझते भी मन हमसे ऐसे-ऐसे दुष्कर्म करा देता है कि दूसरे भी दु:खी हो जाते हैं और हम भी कष्ट भोगते हैं। यदि दयालु भगवान यह विधान न रखे तो जो एक-आध प्रतिशत भलाई है दुनिया में, वह भी कैसे रह पाएगी? क्या इस प्रकार सृष्टि का चलना संभव हो पाएगा?

भगवान की रचना प्रकृति के नियमों के अनुसार चल रही है, हम भी अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चलते हुए कर्म कर रहे हैं, फल भोग रहे हैं। भगवान तो साक्षी चैतन्य हैं, हम अपने अज्ञान के वश या तो कह देते हैं 'हमने किया' (उस समय जब लोग हमारी वाहवाही कर रहे होते हैं) या कहते हैं कि 'भगवान ने कराया' (उस समय जब लोग हमें धिक्कार रहे होते हैं) मोह रूपी इस अज्ञान ने हमारे ज्ञान पर पर्दा डाल रखा है। हमें अज्ञान को दूर भगाना है। हमारे लक्ष्य की प्राप्ति अपने आप हो जाएगी।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।१६।।

परन्तु जिनका वह अज्ञान आत्मज्ञान द्वारा नष्ट कर दिया गया है उनका वह ज्ञान सूर्य के सदृश उस परमात्मा को प्रकाशित कर देता है।

परमात्मा हमारे हृदय में विराजित हैं। किंतु वासनारूपी अज्ञान के आवरण के कारण हम उसके प्रकाश को ठीक-ठीक जान नहीं पाते और मोहित, भ्रमित हो जाते हैं। आवरण के हटने पर उसका परम तेजोमय स्वरूप अपने आप प्रकाशित हो जाता है। इस बात को यहां सूर्य के रूपक से समझाने का प्रयत्न किया गया है।

सूर्य की प्रचंड किरणें सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करती है, लेकिन

जब आकाश में घने बादल छाये रहते हैं तो हम कहते हैं- 'आज तो सूर्य निकला ही नहीं।' हम कह तो रहे हैं कि सूर्य है ही नहीं, पर यदि कोई पूछे कि तुम्हें पता कैसे चला कि बादल छाए हुए हैं? क्या तुमने लालटेन की रोशनी में बादल देखे? तब हम कहेंगे- 'नहीं। उस हिसाब से तो सूर्य की रोशनी से ही हमें पता चलता है कि सूर्य नहीं है। और जब हवा चलती है, बादल छंटते हैं तो सूर्य अपने प्रखरतम रूप में स्पष्ट प्रकाशित हो जाता है। जब तक बादल थे सूर्य का आभास तो हुआ, परन्तु उसकी सम्पूर्ण वास्तविकता का ज्ञान नहीं हुआ।

उसी प्रकार यदि हमें चेतना न हो तो हम यह भी नहीं जान नहीं पाएंगे कि हम नहीं जानते। 'मैं आत्मा को जानता नहीं' यह ज्ञान भी आत्मा के कारण ही है, लेकिन यह वासना अर्थात् अज्ञान से अच्छादित है जिसके कारण हम सम्पूर्ण वास्तविकता को समझ नहीं पाते। आत्मा कुछ है, यह आभास तो होता है- महात्माओं के वचनों से भी और अपनी तर्क शक्ति से भी, लेकिन इसका सत्य स्वरूप क्या है, हमारी क्रियाओं में इसकी भूमिका क्या है, इत्यादि बातें हम तब तक नहीं जान पाएंगे जब तक अज्ञान का आवरण रहेगा। आवरण हटने के बाद कुछ और परिश्रम की आवश्यकता नहीं, यह सूर्य की भांति स्वयं प्रकाशमान हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि वासना का क्षीण होना, पाप के कलुष का मिटना, अज्ञान का आवरण हटना और आत्मा का ज्ञान होना, परमात्मा को जानना और परमगति को प्राप्त होना, ये सब भिन्न-भिन्न क्रियाएं नहीं, सभी समानार्थक हैं।

इन्हें कैसे प्राप्त किया जा सकता है? भगवान बताते हैं:-

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।।१७।।

जिनकी बुद्धि परमात्म तत्व से तदाकार हो गई है, जिसका मन भी तदाकार हो गया है, जिसकी निष्ठा उसी परमात्म तत्व में है, जिसके लिए परम लक्ष्य वही है, ज्ञान उन्हें पापरहित कर देता है और वे वहां पहुंचते हैं जहां से फिर लौटना नहीं पड़ता।

प्रस्तुत श्लोक परम ज्ञानी की अवस्था भी बताता है और साथ-साथ साधक को भी संकेत देता है कि उसे क्या करना चाहिए।

तद् बुद्धयः - बुद्धि को परमात्मा के साथ तदाकार करने से तात्पर्य यह है कि हम चिंतन और मनन करें जब तक कि बुद्धि में यह बात बैठ न जाए कि हम अपने साथ-साथ संसार के जितने प्राणियों और वस्तुओं को आंख, कान, नाक आदि से जितना कुछ देख सुन समझ पाते हैं उससे परे एक सत्य अवश्य है जो इनके परिवर्तनों के बावजूद स्वयं नहीं बदलता।

तदात्मानः - बौद्धिक रूप से अथवा तर्क द्वारा मान लेने मात्र से कुछ नहीं होता। हमें अपने आप को तदाकार करना होगा। साधना के द्वारा यह अनुभव करना होगा कि हमारा सत्य स्वरूप वास्तव में वही है।

तन्निष्ठाः - हमारी सम्पूर्ण निष्ठा उसी के प्रति रहे। हमारे सारे कार्य उसकी महिमा को प्रतिबिम्बित करे। हम उसके पूर्णतः समर्पित हो जैसे मुरली मुरलीवादक को समर्पित होती है। वह जैसे चाहे उसे बजा सकता है। ऐसा करने से हमारा सम्पूर्ण जीवन आश्चर्यजनक रूप से बदलता है।

तत्परायणः - वही हमारा परम लक्ष्य हो। इसी लक्ष्य प्राप्ति के उद्देश्य से हम अपने समस्त कार्य करें। कार्य सामान्य रहते हुए भी दृष्टिकोण बदल जाने से कितना कुछ बदल जाता है। उदाहरण के लिए विवाह के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोण देखें। एक दृष्टिकोण तो यह है कि विवाह इस लिए करना है कि जितना चाहें इन्द्रिय सुख भोग सकें, वंश वृद्धि कर सकें, बेटे-पोतों का सुख देखें, गृहस्थी बसाकर समाज के प्रतिष्ठित नागरिक कहलाएं। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि मुझे मनुष्य का जन्म अपनी वासनाओं का क्षय करने मिला है। विवाह के द्वारा मैं संयमित रूप से संस्कार युक्त जीवन जीते हुए उनका क्षय कर सकूंगा जिससे मुझे परम लक्ष्य की प्राप्ति होगी। दोनों ही दृटिकोण वाले व्यक्ति इन्द्रिय सुख भोग भी भोगेंगे, वंश वृद्धि भी करेंगे, धनोपार्जन भी करेंगे, लेकिन दोनों में बहुत अंतर होगा!

पहले वाला कर्म करता जा रहा है पर उसे पता ही नहीं लक्ष्य क्या है। वह गृहकार्यों को ही परम लक्ष्य समझ लेता है। ज्यादा से ज्यादा इन्द्रिय सुख भोग लूं, बड़ा से बड़ा घर बना लूं, अधिक से अधिक धन कमा लूं, इससे आगे उसकी दृष्टि नहीं जाती, अतः वह उन्हीं में निमग्न

रहता है। जो साधन को साध्य समझ लेता है उसे पूर्णता का अनुभव कैसे होगा? इसीलिए सब कुछ करने के बाद भी उसे खालीपन लगता है अपूर्णता की कसमसाहट बनी रहती है लेकिन बेचारे को पता नहीं कि क्या बात है। वह सोचता है कि उसे अभी संतोष इसलिए नहीं मिल रहा है कि उसका बैंक बैलेंस उसके पड़ोसी से कुछ कम है। इस प्रकार 'और-अधिक, और-अधिक' की चाह में वह जीवन भर हाथ पैर पटकता रहता है। संसार में आया था वासना मिटाने लेकिन उसे बढ़ाने के आलावा कुछ नहीं किया। सारी मेहनत उसे लक्ष्य से दूर लेती जाती है और एक दिन यूं ही तड़प-तड़प कर प्राण दे देता है।

इसके विपरीत वासनाक्षय और परमात्म प्राप्ति को साध्य तथा गृहस्थी को साधन मानने वाले व्यक्ति का जीवन हर कदम पर मर्यादित और अनुशासित होता है। जब उसे अपूर्णता का अनुभव होता है तो साथ-साथ यह भी ज्ञान रहता है कि इस अपूर्णता की पूर्णता में परिणति तब नहीं होगी जब दस लाख रुपये और आ जाएंगे बल्कि तब होगी जब अभी जो दस लाख हैं उन्हें भी भोगने की लालसा मिट जाएगी। ऐसा व्यक्ति भला क्योंकर दुराचार, अनाचार, व्यभिचार में लिप्त होगा? लक्ष्य का ज्ञान उसके कल्मष को दूर करने का ही कार्य करेगा।

भगवान का कहना है कि इस प्रकार जिसके पाप धुल जाते हैं, जिसका अज्ञान दूर हो जाता है वह उस परम अवस्था में पहुंच जाता है जहां से फिर वापसी नहीं होती। इसका अर्थ मृत्यु को प्राप्त करना नहीं। वापसी न होने से तात्पर्य यह है कि वह संसार के तू-तेरे, मैं-मेरे के चक्कर में फिर पड़ता नहीं। जब तक अज्ञान पूरी तरह नहीं मिटता अर्थात् हम साधना की अवस्था में रहते हैं तब तक मन विचित्र-विचित्र खेल दिखाता रहता है। किसी दिन तो हम सत्संग से लौटे और परम उदार बन गए। किसी दिन कहीं से ठगा गए हैं तो अत्यन्त कठोर और अनुदार व्यवहार करने लगे। लेकिन जब अज्ञान का आवरण पूरी तरह हट जाता है तो वह सिद्ध पुरुष बन जाता है उसे अच्छी तरह ज्ञान हो जाता है कि सभी प्राणियों में वही आत्मा है जो उसमें है। उसके लिए अपने पराए का भेद सदा के लिए मिट जाता है।

ऐसे सिद्ध पुरुष की दृष्टि कैसी होती है? भगवान कहते हैं:-

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।१८।।

वे ज्ञानी जन विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण में, गाय में, हाथी में तथा कुत्ते और चाण्डाल में भी समभाव देखने वाले होते हैं।

जिसके अंत:करण में ज्ञान के द्वारा अज्ञान का परदा हटने पर उस परमात्म तत्व का प्रकाश हो जाता है वह सर्वत्र सम देखता है। मनुष्य में विद्या और सुशीलता से सम्पन्न संस्कारयुक्त ब्रह्मण को हम श्रेष्ठ मानते हैं तथा पेट भरने के लिए कुत्ते का भी मांस खाने वाले संस्कारहीन चण्डाल को अत्यंत निकृष्ट। इसी प्रकार पशुओं में गाय को सर्वश्रेष्ठ मान कर पूजा की जाती है, हाथी से काम कराया जाता है और कुत्ते को दुत्कार दिया जाता है। अत: इन सबका नाम गिनाने से भगवान का तात्पर्य यही है कि ज्ञानी पुरुष जाति, उपयोगिता और गुणों को देखकर भेदभाव नहीं करता। उसकी दृष्टि देह पर नहीं बल्कि देही पर होती है जो सब में एक ही है।

हम ठहरे साधारण संसारी! हमें महात्मा जन बताते हैं कि ब्राह्मण और चाण्डाल दोनों में एक ही परमात्मा है। श्रद्धावश हम मान भी लेते हैं। लेकिन वास्तव में दोनों सामने हो तो हम चाण्डाल के प्रति अपनी घृणा या अनादर को चाह कर भी रोक नहीं पाते। महात्मा जी के वचनों को याद करते हुए प्रयत्न भी करें तो भी सफल नहीं होते क्योंकि हमने माना है, जाना नहीं। यह ज्ञान हमारा अपना नहीं हुआ है।

लेकिन हमें कांटा पैर में चुभे या हाथ में, फुंसी आंख पर हो या मलद्वार पर, इनके प्रति समदृष्टि आ जाए इसके लिए उपदेश देने वाले महात्मा की जरूरत नहीं पड़ती क्योंकि यह हमारी स्पष्ट अनुभूति है कि हाथ भी मैं ही हूं, पैर भी मैं ही हूं। आंख भी मेरी ही है, मलद्वार भी मेरा ही है। हमारे हाथ कभी नहीं कहते कि हम पैर का कांटा क्यों निकालें। पैर कभी नहीं कहते कि आंख इलाज करवाने हम क्यों डाक्टर के पास दौड़ें। जिस प्रकार अपने शरीर के विभिन्न अंगों की एकात्मकता में हमें कोई संशय नहीं, उसी प्रकार जो सबमें एक ही परमात्मा को देख पाता है उसे संशय नहीं होता। समभाव के अलावा दूसरा भाव उसका हो ही नहीं सकता।

यहां एक व्यवहारिक बात समझने की जरूरत है। एक प्रश्न उठता है कि ज्ञानी पुरुष-व्यवहार कैसे करता है। क्या ब्राह्मण और कुत्ते में भेद न देखने के कारण वह आंगन में घुस आए कुत्ते को आसन प्रदान कर खीर खिलाएगा? यदि कहें- हां, तब तो ज्ञानी को लोग ज्ञानी नहीं पागल ही कहेंगे। 'ना' कहना क्या इस श्लोक को गलत बताना नहीं होगा?

ध्यान देने की बात है कि यहां ज्ञानी को समदर्शी कहा गया है, समवर्तनशील नहीं। हमारे सारे अंग हमारे अपने हैं, हमें समान रूप से प्यारे हैं अर्थात् एक अंग के पीड़ा होती है, तो उसे हम अपनी पीड़ा समझते हैं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हमें दो किलोमीटर यात्रा करनी है तो एक किलोमीटर हम पैर से चलें और एक किलोमीटर हाथ से। यह व्यवहार का भेद है। इसी प्रकार ज्ञानी को भी दृष्टि का भेद न रखते हुए भी व्यवहार का भेद तो बनाए ही रखना होगा। गाय है, शेर है, सबमें भगवान है, लेकिन शेर भगवान की पूजा करने जाएंगे तो प्राणों से ही हाथ धोना पड़ेगा।

इसलिए प्रस्तुत श्लोक का अर्थ यह है कि ज्ञानी सबके प्रति कल्याण की भावना में सम रहता है जैसे हम अपने सिर, पैर, गुदा आदि अंगों के प्रति इस अर्थ में समभाव रखते हैं कि सबकी पीड़ा को अपनी पीड़ा मानते हैं। पैर को निकृष्ट और गुदा को गंदा भाग मानकर उनकी उपेक्षा नहीं करते। यह नहीं सोचते कि सिर का स्थान ऊंचा है इसलिए पहले उसी की चिकित्सा होनी चाहिए। हम सोचते हैं कि जिस अंग को चिकित्सा की अवश्यकता अधिक है पहले उसकी होनी चाहिए। इसी प्रकार सहायता करते वक्त ज्ञानी ऊंच-नीच नहीं देखता। पशुओं की चिकित्सा करनी हो, तो वह यह नहीं सोचेगा कि गाय की तो करूं और कुत्ते की न करूं। जिसे सेवा की आवश्यकता ज्यादा होगी उसी की पहले करेगा। यही ज्ञानी का समदर्शित्व है।

इस बात को भक्ति की भाषा में भी समझ लें। भक्त समझता है कि सबके रूप में उसके आराध्य, उसके भगवान ही आए हैं और उसे व्यवहारिक क्रियाओं द्वारा वास्तव में उनकी पूजा ही करनी है। अब भगवान यदि कभी पत्नी के रूप में आ रहे हैं, कभी पुत्र के रूप में तो उनका उद्देश्य दो भिन्न-भिन्न प्रकार से पूजा कराना है। इसी प्रकार गाय, हाथी या कुत्ते के रूप में आने का मतलब ही यह है कि पूजा अलग-अलग प्रकार

की हो। यदि उन्हें एक ही ढंग चाहिए तो वे अलग-अलग रूप में आते ही क्यों? हम विश्वनाथ जी का अभिषेक कभी दूध से करें, कभी जल से, कभी पुष्प चढ़ाएं तो पूजा के तरीके में भिन्नता होगी पर हर पूजा होनी अच्छी तरह से चाहिए। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों प्राणियों वस्तुओं के साथ व्यवहार भिन्न हो पर यथोचित हो और अच्छा हो। ऐसा तत्वदर्शी पुरुष इसी जीवन में सांसारिकता पर विजय पाकर जीवन्मुक्त हो जाता है। यह बतलाने के लिए भगवान कहते हैं:-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।१९।।

जिनका मन समत्वभाव में स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में जन्म-मरण रूप संसार को जीत लिया गया है। चूंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है इसलिए वे ब्रह्म में ही स्थित होते हैं।

भगवान स्पष्ट कर रहे हैं कि वे जिस पूर्णावस्था की बात कर रहे हैं वह मृत्यु के बाद की नहीं। वे आसमान में सितारों के उस पार के किसी जहां की बात नहीं कर रहे जिसे स्वर्ग, जन्नत कहा जाता है। मृत्यु के बाद स्वर्ग लोक के सुख की प्राप्ति की कल्पना किसी बुद्धिजीवी को नहीं लुभा सकती, किसी व्यवहारिक व्यक्ति को प्रभवित नहीं कर सकती। वह तो सब कुछ यहीं पाना चाहता है।

भगवान यही बता रहे हैं कि जिसका अहंकार समदर्शिता में विलीन हो गया, जिसने अपने आप में और सारे जग में भी राम को देख लिया, जिसने अपनी भेद-बुद्धि को जीत लिया, जो समत्व में स्थित हो गया उसने मानों जीते जी ही सर्ग अर्थात् जीवन-मरण रूपी संसार को जीत लिया।

हमारे दांत जीभ को काट लें तो हम दांतों को सजा नहीं देते क्योंकि हमारे चित्त में यह भाव एकदम पक्की तरह स्थिर है कि जीभ मैं ही हूं, दांत भी मैं ही। जीभ का कष्ट भी मेरा ही कष्ट है, दांत का कष्ट भी मेरा ही है। यह बात केवल किसी से सुनी या पढ़ी हुई होती, तो शायद यह भाव हमेशा चित्त में स्थिर नहीं रहता और कभी तो दांतों को तोड़ डालने का मन

हो ही जाता। लेकिन यह हमारा अनुभव है अत: ऐसी बात मन में आने का प्रश्न ही नहीं उठता। हमें भी संत-महात्मा जब कहते हैं कि सभी प्राणियों में एक ही आत्मा है, तो हम मानना चाहते भी हैं, प्रयत्न करते भी हैं तो कभी तो उसके अनुरूप व्यवहार कर पाते हैं, कभी एकदम नहीं कर पाते और कभी भ्रम में रहते हैं। लेकिन आत्मज्ञानी का तो यह स्वानुभव है, उसे वास्तव में सबमें एक ही आत्मा का दर्शन हुआ है अत: उसका व्यवहार अन्यथा हो ही नहीं सकता। उसे किसी में दोष दीख ही नहीं सकता, उसे कोई ऊंचा कोई नीचा लग ही नहीं सकता क्योंकि वह ब्रह्म में स्थित है यानि उसकी दृष्टि प्राणियों में निवास करने वाले ब्रह्म पर होती है, उनकी काया पर नहीं। काया में दोष हो सकता है, ब्रह्म में नहीं।

ऐसे ब्रह्मवेता के चित्र में रंग भरते हुए भगवान कहते हैं:-

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थित: ।।२०।।

ब्रह्म में अवस्थित निश्चल बुद्धि वाला संशय रहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष न तो प्रिय को पा कर हर्षित होता है न अप्रिय को पाकर उद्विग्न।

शीत उष्ण, सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय, सिद्धि-असिद्धि, प्रिय-अप्रिय, शत्रु-मित्र, शुभ-अशुभ, मिट्टी-कंचन, ब्राह्मण-चाण्डाल, मनुष्य-पशु इन सबके बीच व्यवहार करते हुए मन बुद्धि को समत्व में स्थिर रखने वाले स्थित प्रज्ञ, ज्ञानी की बात बताना भगवान को बहुत अच्छा लगता है। करीब-करीब हर अध्याय में एक-आध श्लोक भगवान घुमा फिराकर इसके बारे में कह ही देते हैं। यह व्यर्थ की पुनरोक्ति नहीं। भगवान बार-बार यह इसलिए कहते हैं क्योंकि यह हमारा परम लक्ष्य है। अलग-अलग योगों की शिक्षा देते हुए भी हर बार इस बात पर आ जाने का मतलग यही स्पष्ट करना है कि हम राह कोई भी पकड़ें, मंजिल एक ही है, यही है। यह बात हमारे हृदय में दृढ़ता से जमी होनी चाहिए तभी हम बिना भटके उत्साह के साथ कदम बढा पाएंगे।

इन द्वन्द्वों का उल्लेख करने का अर्थ यह भी है कि स्थित प्रज्ञ, ब्रह्मवेत्ता, कर्मयोगी, संन्यासी, गुणातीत या भक्त कोई मिट्टी का मूरत नहीं होता। जिसे सुख-दु:ख, शीत-उष्ण आदि की चेतना ही नहीं। ऐसी बात नहीं कि उसे कुछ प्रिय नहीं लगता है और कुछ भी अप्रिय नहीं लगता। इनका ज्ञान उसको भी उतना ही है जितना साधारण जन को। फर्क केवल प्रतिक्रियाओं में है। वह उत्तेजित उद्विग्न नहीं होता। हम या तो नाचने लगते हैं या कोसने लगते हैं। एक साधु पुरुष को किसी कारण वश कुछ समय गुंडे बदमाशों के बीच रहना पड़े तो उनकी छिछोरी हरकतें उसे रुचिकर तो कदापि नहीं लगती लेकिन अशान्त और दु:खी नहीं कर पाती।

इस श्लोक में सभी बातें क्रमवार कही गई है। जो इस प्रकार उत्तेजित या हर्षित नहीं होता उसकी बुद्धि स्थिर होती है। जिसकी बुद्धि स्थिर होती है उसके मोह नष्ट हो जाते हैं। ऐसा स्थिरबुद्धि असंमूढ व्यक्ति ही ब्रह्मविद् हो सकता है अर्थात् ब्रह्म को जान सकता है और जो ब्रह्म को जान लेता है वही ब्रह्मानंद में स्थित हो सकता है।

इस प्रकार प्रिय-अप्रिय से अनुद्विग्न, अनुत्तेजित, अछूता कौन रह सकता है- वह जिसका अन्त: करण बाहरी वस्तु, भाव या विचारों के जगत के उपभोग की ओर न जाता हो। भगवान कहते हैं:-

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमष्नुते ।।२१।।

जो बाहरी विषयों के स्पर्श के प्रति अनासक्त है वह अपने भीतर जिस सुख को प्राप्त करता है उस अक्षय सुख का अनुभव ब्रह्मयोग में स्थित रहने वाला पुरुष भी करता है।

अपनी विभिन्न इन्द्रियों द्वारा हम विभिन्न विषयों का स्पर्श करते हैं, मन के द्वारा भावनाओं का स्पर्श करते हैं अर्थात् अपने प्रति किसी के प्रेम, राग आदि को पहचानते हैं और बुद्धि द्वारा विचारों का स्पर्श होता है, अपनी प्रशंसा, कीर्ति को समझते हैं। हम साधारण मनुष्य तो इन सबमें कभी किसी तो कभी किसी में उलझे रहते हैं। विषय सुख को हम तभी त्याग सकते

हैं जब इसके बदले में हमें किसी का अतिशय प्यार मिले या लोग वाहवाही करें। किसी न किसी के लिए अनुराग बना ही रहता है। यह अनुराग हमें झूले की भांति झुलाता रहता है। जब तक स्पर्शों के प्रति असक्ति रहेगी, हम प्रिय-अप्रिय के द्वन्द्व से कभी मुक्त नहीं हो पाएंगे, यथार्थ सुख का भोग कभी नहीं कर पाएंगे।

अब एक प्रश्न उठ सकता है कि हम यह कैसे कह सकते हैं कि जब विषयों की आसक्ति नहीं होती तब सुख मिलता है? जो दुख विहीनता की स्थिति है वह सुख विहीनता की भी स्थिति हो सकती है। दुख न हो पर सुख भी न हो तो ऐसी स्थिति में पहुंच कर क्या लाभ?

भगवान कहते हैं कि ऐसी बात नहीं। उस स्थिति में तो अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं- हम कितना ही सुख क्यों न भोग रहे हों, बीच-बीच में दुख आ ही जाता है और यदि हम मान भी लें कि किसी दिन तो दिन भर दुख का प्रसंग आया ही नहीं, हमने जो चाहा हमें मिलता गया, हम उनका निर्बाध उपभोग करते रहे, कहीं भी कुछ भी गड़बड़ी नहीं हुई। फिर भी अंत में एक स्थिति आ जाती है जब हम सब छोड़ कर नींद लेना चाहते हैं। और फिर सुबह उठकर कहते हैं-'आज तो मैं सुख की नींद सोया।' नींद के वक्त बाहरी किसी विषय भोग के स्पर्श की आसक्ति नहीं होती पर सुख हमें इतना लगता है कि इसके लिए हम दूसरे बड़े-बड़े सुख त्याग देते हैं।

इससे स्पष्ट है कि स्पर्शासक्ति के त्याग की स्थिति मात्र दुख विहीनता की नहीं बल्कि वास्तविक सुख प्राप्ति की स्थिति है। पर अफसोस इसी बात का है कि यह स्थायी नहीं। कितनी भी सुख की नींद हो, सात-आठ घंटे से ज्यादा नहीं टिक सकती। हम फिर उठकर अगले दिन के दुख या सुख भोगने को बाध्य हो जाते हैं।

लेकिन ब्रह्मयोग में स्थित, स्पर्श से अनासक्त पुरुष का सुख अक्षय है। नींद का सुख तो अज्ञान के आवरण में लिपटा होता है। जिस आठ घंटे हमने नींद ली उस समय हम चैतन्य नहीं थे। इस सुख का तो आभास हमें जागने पर हुआ किंतु जब चित्त निश्चल भी हो, चैतन्य भी और स्पर्शासक्ति से मुक्त भी, तब जो सुख मिलता है वह यथार्थ सुख है।

लेकिन विषयों के स्पर्श की इस आसक्ति से मुक्त हुआ कैसे जाए? भगवान बताते हैं:-

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।२२।।

जो इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग हैं वे निःसंन्देह दुख के ही हेतु हैं तथा आदि अन्त वाले (अर्थात् अनित्य) हैं, अतएव हे कुन्ती पुत्र, बुद्धिमान विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमते।

विषयों के प्रति इन्द्रियों की जो स्पर्शासक्ति है उनसे हम तभी मुक्त होंगे जब विवेक विचार करेंगे और उनसे होने वाले हानि-लाभ का विश्लेषण करेंगे। इसके लिए यहां दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है। दुखःयोनयः अर्थात् दुख को जन्म देने वाला और आद्यन्तवन्तः अर्थात् जिसका प्रारम्भ होता है और फिर नाश भी हो जाता है।

इन्द्रियां जब तक विषयों के सम्पर्क में रहती है तभी तक उसका सुख मिलता है बल्कि सच तो यह है कि उसमें भी थोड़ी ही देर। दो रसगुल्ले खाने तक ही रसगुल्ले का स्वाद अच्छा लगता है और चार-पांच खाने के बाद तो वह दुखदायी ही लगने लगता है। सुख का अंत हो जाता है और वही दुख की शुरुआत है। पर हम तो एक क्षण के लिए भी दुख भोगना चाहते ही नहीं। अतः अपने सुख को स्थायी करने का बढ़िया उपाय निकालते हैं। जैसे एक ही विषयस्पर्श सुख दुख में परिणत होना नजर आए, तुंरत विषय बदल डालो। फिर थोड़ी देर तक के लिए नया 'मजा' मिलता है और वह खत्म होता है तो हम किसी तीसरे मजे की तलाश कर लेते हैं। इस प्रकार 'मजा' को आनन्द समझने की भूल करते हुए हम उसे खोजते हुए कभी क्लब जाते हैं, कभी होटल, कभी ताश में बैठते हैं कभी पिक्चर देखते हैं।

लेकिन यह मजा स्थाई नहीं रहता अंत में दुखदायी बन जाता है सो अलग। विषयों की कामना की पूर्ति से जो सुख मिलता है वह तो खुजली के सुख जैसा है। खुजली होने पर खुजलाना इतना इच्छा लगता है कि हम खुजलाते जाते हैं खुजलाते जाते हैं। इससे साधारण खुजली भी कभी कभी

घाव का रूप ले लेती है। हमारी पीड़ा और बढ़ती जाती है। इसी प्रकार विषयों के लिए पहले तो उत्तेजना जागती है, फिर उस उत्तेजना को येन केन प्रकारेण शांत करने में नाना प्रकार की व्याधियां पाल ली जाती हैं। एक उत्तेजना शांत होती है तो दूसरे का नम्बर आ जाता है। मृत्यु पर्यन्त प्रयत्न करने पर भी पूर्ण सुख की प्राप्ति होती ही नहीं।

बुद्धिमान व्यक्ति कोई वस्तु लेने या किसी कार्य में लगने के पहले ही उसके फायदे नुकसान को जांच परख लेते हैं। हम यदि विषयों के सुख को इस प्रकार जांचें तो हर तरह से घाटे का सौदा ही मालूम देगा। हम एक ही सत्य पर पहुंचेंगे कि विषय भोग नश्वर और दु:ख के कारण हैं। सामान्य व्यक्ति के मन और बुद्धि पर इन्द्रियों की पकड़ इतनी गहरी होती है कि वह इस प्रकार विवेचना कर ही नहीं पाता लेकिन विवेकी पुरुष विवेक का आश्रय लेकर इनके आकर्षण से ऊपर उठ जाता है।

यदि विषयों के आकर्षण में रमा हुआ पुरुष भोगी और दुखी है तो योगी और सुखी कौन है? भगवान बताते हैं:-

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।।२३।।

जो पुरुष शरीर नाश से पूर्व इस जीवन में ही काम क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहने में समर्थ हैं वही योगी है और सुखी वही है।

यहां पर सच्चे योगी और सुखी नर की परिभाषा दी गई है जो संसार के बीच रहता है और इसी के बीच रहते हुए जीवित अवस्था में ही इस अलौकिक सुख का अनुभव करता है। भगवान कहते हैं कि जो काम और क्रोध के आवेग से अपने को बचा लेने में समर्थ है वही सही मायने में सुखी और योगी है। पिछले श्लोक में ही भगवान ने बताया था कि संसार के भोग दुख योनि है अर्थात् हर सुख के साथ दुख लिपटा हुआ है। इसे अच्छी तरह जानने के बात मनुष्य की दो प्रतिक्रियाएं हो सकती है।

पहली तो यह कि हम केवल दुख को ही दृष्टिगत रखे जैसे

सिद्धार्थ ने किया था। संसार में दुख नजर आए तो उन्होंने संसार का त्याग कर शाश्वत सुख की खोज की। वे बुद्ध हुए।

दूसरी यह कि हम दुख की ओर से जानबूझ कर आंख मूदते हुए संसार के सुखों के पीछे दौड़ते रहें, उनके कतरें बटोरने का प्रयत्न करते रहें और यथा संभव अपने को सुख संपन्न बनाने की कोशिश में पसीना बहाते रहें। लेकिन ऐसा कर हम वास्तविकता से बच नहीं सकते। संत ज्ञानेश्वर कहते हैं कि सांप के फन की छांह को सुख समझने वाला चूहा कब तक उसके मुंह में जाने से बच सकता है? ऐसा करने वाले को दुख के गंभीरतम डंक भोगने ही पड़ते हैं।

अब जरा विचार करें कि दोनों में से कौन सी स्थिति हमें स्वीकार है? क्या हम गौतम बुद्ध बनने को तैयार हैं? या फिर हम सुख की आस में दुख के थपेड़े खाने को तैयार हैं? यदि दोनों प्रश्नों का आपका उत्तर 'नहीं' है तो गीता का यह श्लोक आपके लिए है।

गीता कहती है- इसी जन्म में इसी शरीर में यदि आप सुखी होना चाहते हैं तो काम और क्रोध के आवेग को सहने की शक्ति बढ़ाएं। जब हमें किसी वस्तु व्यक्ति या परिस्थिति से सुख मिलता है तो उसके प्रति काम का आवेग होता है। जब किसी वस्तु व्यक्ति या परिस्थिति से दुख होता है तो क्रोध का आवेग होता है। इन दोनों आवेगों से हम तभी बचेंगे जब मानसिक रूप से दोनों के लिए तैयार रहें। यही सबसे सीधा उपाय है तभी हम उपलब्ध सुख को भोग पाएंगे और अनुपलब्ध सुख के लिए दुखी नहीं होंगे।

मुझे और मेरी सहेली को आइसक्रीम खाने का बहुत शौक है। जब भी बाजार निकलें हम आइसक्रीम खाना चाहते हैं। लेकिन इसके प्रति मेरा आग्रह बहुत प्रबल है। हम हमेशा साथ-साथ बाजार जाते हैं। जब आइसक्रीम खा पाते हैं तब शायद मुझे उससे ज्यादा सुख का अनुभव होता होगा लेकिन कई बार घर लौटने की जल्दी या वर्षा या अन्य किसी कारण से आइसक्रीम खाना नहीं भी हो पाता है। तब मेरे दुख, मेरे रोने धोने का अन्त नहीं होता। सारा सुख मटियामेट होता है मुझे सारे संसार पर ही नहीं अपने ऊपर भी गुस्सा आने लगता है। दूसरी और मेरी सहेली है जिसे आइसक्रीम तो अच्छी लगती है पर मेरी तरह उसके प्रति जिद नहीं। जब खाते हैं तो वह आनन्द

लेती है, जब नहीं खा पाते तो उसकी मस्ती में कोई रुकावट नहीं होती। सही मायने में आइसक्रीम का सच्चा आनन्द वही उठा पाती है।

यदि संसार को दुख योनि जानते हुए हम इसे पूरी तरह त्यागना नहीं चाहते तो हमारे लिए एक ही उपाय है सुखी रहने का- हम सुख दुख दोनों के लिए अपने को मानसिक रूप से तैयार रखें। जैसे सफर की तकलीफों के लिए मानसिक रूप से अपने आप को तैयार करके ही हम तीन दिन रेल यात्रा का कष्ट उठाकर हिल स्टेशन का आनन्द भोग पाते हैं। इस मानसिक तैयारी के बाद हम काम और क्रोध के आवेग के वशीभूत नहीं होते। सुख की राह यही है।

अब आगे तीन श्लोकों में बताया गया है कि काम क्रोध के आवेग को जीतने वाला किस प्रकार निर्वाण को प्राप्त होता है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।२४।।

जो पुरुष अपने भीतर ही सुख मानता है और आत्मा में ही विश्राम का अनुभव करता है तथा सब कुछ आत्मा के आलोक से आलोकित देखता है वह योगी ब्रह्म के साथ एकीभाव को प्राप्त होता हुआ ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होता है।

काम और क्रोध को जीतने का अर्थ है राग और द्वेष को जीत लेना। ऐसा व्यक्ति संसार में व्यवहार अवश्य करता है पर बाहरी भोग विलास इत्यादि उसे लुभा नहीं पाते। बाहरी दुख का अभाव सुख हो ही, यह आवश्यक नहीं होता। कभी-कभी ऐसा होता है कि जीवन में सब कुछ समरसता के साथ चल रहा है हमें कोई काम करने की आवश्यकता नहीं, कोई परेशानी नहीं, कोई तंग करने वाला नहीं। ऐसे में हम तो बोर हो जाते हैं, एकरसता से ऊब जाते हैं। लेकिन योगी वैसा नहीं होता। वह बाहरी जगत से तो मोहित नहीं होता किन्तु आन्तरिक जगत में उसके लिए बहुत सी सामग्री होती है। आत्मा के स्वरूप का ज्ञान उसे अनन्त सुख प्रदान करता है। जब उसे इस बात की प्रत्यक्ष अनुभूति होती है कि सारा संसार एक ही

ब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशमान है तो उसकी यात्रा अन्तर्जगत की ओर आरम्भ हो जाती है और अन्त में ब्रह्म के साथ वह पूर्ण तादात्म्यता का अनुभव करता है। भगवान का कहना है कि ऐसा व्यक्ति स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है।

अब अगले श्लोक में कर्म के प्रति भगवान का आग्रह पुनः मुखर हो उठा है। ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त योगी की गतिविधियों के विषय में वे बताते हुए वे कहते हैं-

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।२५।।

जिसके पाप क्षीण हो गए हैं, और संशय का नाश हो गया है, जो संयत चित्त वाले हैं तथा समस्त प्राणियों का हित करने में रित रहते हैं ऐसे ऋषिजन ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

जिस पुरुष को ब्रह्म की प्रत्यक्ष अनुभूति हो गई है ऐसे व्यक्ति का ज्ञान जब बौद्धिक धरातल से व्यवहारिक धरातल पर उतरता है तो चार फल दृष्टिगोचर होते हैं।

ज्ञानी व्यक्ति का आचरण निष्कलुष होता है, वह किसी भी प्रकार के पाप कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। एक व्यक्ति यदि मैनेजमेंट का सम्पूर्ण ज्ञान रखता है, उसे यह भी स्पष्ट पता है कि आफिस में उसका पद क्या है, उसे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों तथा सहयोगियों के साथ भी अपनेपन का अनुभव होता है तो उसके कर्म कभी भी ऐसे नहीं होंगे कि लोग उसे दुराचारी कह सकें। उसे अपने कर्त्तव्य का पूरा-पूरा ज्ञान होगा, कोई द्विविधा नहीं होगी। अर्जुन की भांति 'करूं या न करूं, यह करूं कि वह करूं', वाला संशय उसे कभी नहीं सताएगा। मार्ग स्पष्ट दिखाई दे और मार्ग पर चलने की योग्यता भी हो तो दिमाग भी परेशान नहीं रहता, संयत रहता है। ऐसे व्यक्ति के कर्म कैसे होंगे? क्या वह अकर्मण्य होकर बैठ जाएगा? कदापि नहीं। स्वयं अपने आप से, अपने पद से, अपने कार्य से तो संतुष्ट होगा लेकिन अपने सहयोगियों और अधीनस्थों के दुख दर्द पर उनकी नजर

अवश्य होगी और उनके लिए वह अवश्य प्रयास करेगा क्योंकि उन्हें वह अपना मानता है।

इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञानी भी निष्पाप होगा, द्विविधा रहित होगा, संयमित चित्तवाला होगा लेकिन निष्काम होते हुए भी वह अकर्मण्य नहीं होगा। उसके लिए तो केवल पिता, पुत्र, पत्नी ही नहीं वरन् संसार के सभी प्राणी अपने हैं, आत्मस्वरूप है अतः वह सभी के हित के लिए निरंतर प्रयासरत रहेगा।

अब इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए भगवान कहते हैं:-

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।२६।।

काम, क्रोध से मुक्त हुए, संयत चित्त वाले, आत्मवेत्ता यतियों के लिए तो सभी ओर से ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त है।

धरती पर सपाट धरातल पर तो आराम से वे सभी व्यक्ति विचरण कर लेते हैं जिनके हाथ पैर सही सलामत हों, आंखें ठीक-ठीक देख पाती हों, बुद्धि ठीक-ठीक कार्य कर पाती हो। हाथ पैर और आखें तो चाहिए ही बुद्धि भी प्रखर होना आवश्यक है वर्ना हो सकता है कि वह कांटों में उलझ जाए अथवा जलती हुई आग की ओर दौड़े पड़े। यदि उसे पहाड़ पर उन्मुक्त होकर घूमना है तो कुछ और बाहरी भीतरी योग्यताएं-क्षमताएं हासिल करनी होगी। स्पेशल जूते हो, ब्लड प्रेशर की बीमारी न हो, अधिक ऊंचाई पर जाना हो तो आक्सीजन सिलिण्डर भी हो। पानी में डुबकी लगानी है तो उसकी विशेष पोशाक आवश्यक होती है। इस प्रकार जो व्यक्ति एक अवस्था में उन्मुक्त होकर विचरण कर रहा है उसके लिए दूसरी स्थिति में भी उन्मुक्त रहना संभव नहीं भी हो सकता है। लेकिन यदि उसने ब्राह्मी स्थिति पा ली हो तो बात बदल जाएगी।

भगवान कहते हैं कि ब्रह्म ज्ञानी के लिए तो हर ओर से निर्वाण है। इसका अर्थ यह नहीं कि ऊंचे पहाड़ पर वह आक्सीजन सिलिण्डर लिए

बिना जा सकेगा या आकाश में पक्षियों की भांति उन्मुक्त उड़ सकेगा। 'हर ओर से' का अर्थ है वह कहीं भी रहे, किसी भी अवस्था में रहे, कैसे भी लोगों के बीच रहे, इस मनुष्य लोक में तथा मृत्यु के बाद परलोक में भी उसकी स्वछन्दता, उसका मुक्ति बोध कभी दूर नहीं होगा, क्योंकि उसने निष्कामता, अक्रोध और संयम का कवच धारण कर रखा है और वह ब्रह्म दृष्टि का स्वामी है। सभी अवस्थाओं में, सर्वत्र, सब समय उसे ब्रह्म की ही अनुभूति होती है। इस प्रकार कर्मयोग और कर्म संन्यास दोनों के द्वारा प्राप्य फल ब्राह्मी स्थिति का विषद् विवेचन करने के बाद अब अगले दो श्लोकों में भगवान बताते हैं कि मुक्ति की इसी अवस्था को ध्यान योग के द्वारा कैसे पाया जा सकता है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायण।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।२८।।

बाहर के विषयों को बाहर ही रखकर, दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थापित करके तथा नासिका में विचरने वाली प्राण एवं अपान वायु को सम करके जिस मोक्ष परायण मुनि ने इन्द्रिय मन और बुद्धि को जीत लिया है तथा जो इच्छा, भय और क्रोध से ऊपर उठ चुका है वह तो सदा सर्वदा मुक्त ही है।

इन दोनों श्लोकों में आगे के छठे अध्याय- ध्यान योग की भूमिका प्रस्तुत की गई है। ध्यान योग इन्द्रिय, मन और बुद्धि को अपने नियंत्रण में लाने का उपाय है। गीता में प्रायः हम देखते हैं कि भगवान को जो बात अगले अध्याय में कहनी होती है उसे संकेत रूप में पूर्व अध्याय में कह देते हैं। अगले अध्याय में हमें ध्यान की प्रणाली के लिए आवश्यक प्रारंभिक तैयारियों, ध्यान की क्रिया तथा उसके द्वारा प्राप्त चरम फल का पूर्ण विवरण मिलेगा। यहां प्रारंभिक तैयारियों के लिए एक सूत्र दिया गया है- बाहरी विषयों को बाहर ही छोड़ देना। जब तक विषयों के प्रति यथेष्ट वैराग्य नहीं होगा, हम ध्यान के अभ्यास के लिए बैठ ही नहीं सकते।

ध्यानाभ्यास के लिए आवश्यक है कि हम अपनी दृष्टि को भौहों के बीच केन्द्रित करें। इसका अर्थ आंख के गोलकों पर तनाव डाल कर उन्हें एक निश्चित स्थान पर स्थिर करना नहीं।

तात्पर्य यह है कि हमारी नजर आंख बंद होने पर भी इधर-उधर भागती न रहे। फिर नाक के छिद्रों में विचरण करने वाली प्राण और अपान वायु को सम कर लें। यह विद्या प्राणायाम कहलाती है। सामान्यत: हमारी एक नासिका अधिक भरी हुई होती है अत: प्राण और अपान की गति अलग-अलग होती है। प्राणायाम से दोनों नासिकाओं में प्राण और अपान की गति को समान किया जा सकता है। प्राण-अपान की समता से इन्द्रियों की चंचलता दूर होने लगती है। वे विषयों में विचरण करने के बदले स्थिर होने लगती है। इससे मन और तत्पश्चात् बुद्धि भी स्थिर होने लगती है। इससे इच्छा, कामना, लालसा खत्म होती है। कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती तो कुछ खोने का भी भय नहीं रहता। इच्छा और भय नहीं रहता तो क्रोध भी नहीं आता क्योंकि क्रोध तभी आता है जब हमारी इच्छा अपूर्ण हो या किसी का भय हो। इस प्रकार वह मुनि इच्छा, भय, क्रोध से मुक्त हो जाता है। मुनि उसे कहते हैं जो मननशील है। इच्छा, क्रोध, भय से मुक्त मननशील व्यक्ति की निष्ठा यदि मोक्ष अर्थात् मुक्ति यानि सभी प्रकार के बंधन छूटने में हो तो निश्चित रूप से वह अपने लक्ष्य को प्राप्त करेगा ही। भगवान भी आश्वासन देते हैं कि ऐसा व्यक्ति सभी अवस्थाओं में सदा मुक्त ही रहता है चाहे ध्यान चिंतन का समय हो या व्यवहार का, शरीर रहते हो या शरीर छूटने के बाद।

इसके बाद उपसंहार करते हुए शांति अर्थात् मुक्ति यानि परमात्मा की प्राप्ति की एक और साधना का परिचय भगवान देते हैं। वह है भक्ति की साधना।

कर्मयोगी की दृष्टि तो कहती है कि फल से अनासक्त हो कर कर्म करना चाहिए क्योंकि फल पर हमारा अधिकार नहीं है। ज्ञानयोगी की दृष्टि कहती है कि इन्द्रियां अपने-अपने विषयों में त्रिगुणात्मिका प्रकृति के अनुसार व्यवहार कर रही है मैं तो कर्ता हूं ही नहीं। वह समस्त संसार को ब्रह्ममय देखता है। भक्त की दृष्टि क्या बताती है? भगवान कहते हैं:-

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

(भक्त) मुझे सब यज्ञों और तपों का भोक्ता, सम्पूर्ण लोकों का महान ईश्वर तथा सम्पूर्ण प्राणियों का सुहृत् जान शांति को प्राप्त होता है।

भोक्तारं यज्ञ तपसां– भक्त मानता है कि सभी यज्ञों और तपों के भोक्ता भगवान हैं। साधारण व्यक्ति यदि किसी देवता की पूजा करता है तो वह समझता है मैंने अग्नि देवता की पूजा की, मैंने गणेश की पूजा की, मैंने लक्ष्मी की पूजा की, मैंने संतोषी मां का व्रत किया। यदि किसी भूखे को भोजन दिया तो सोचता है मैंने आज रामलाल को भोजन दिया, मैंने सोहनलाल की सहायता की, मैंने अपने अनाथ भतीजे को पाला, मैंने अपने मुनीम की आंखों का इलाज करवाया इत्यादि। किन्तु भक्त तो किसी देवता की पूजा करे या किसी भूखे को भोजन कराए या रोगी की चिकित्सा करवाएं अथवा अनाथ का पालन पोषण करें, वह तो प्रत्येक सेवा को ठाकुरजी की सेवा मानता है। यही हर में हरि को देखना है। सिया राम मय सब जग जानी का भाव यही है। वह स्वयं अपने लिए भी कुछ करता है तो यही भाव रहता है कि मेरे प्रभु मेरे अन्दर बैठकर सब कुछ ग्रहण कर रहे हैं। मैं कुछ भी ऐसा न करूं जिससे उन्हें तकलीफ हो, कुछ भी ऐसा न खाऊं पियूं जो उन्हें अर्पित करने लायक न हो। इस प्रकार उसके जीवन, रहन–सहन, आचार–विचार, व्यवहार में पवित्रता और शुद्धता आ जाती है।

सर्व लोक महेश्वरः – केवल सेवा पूजा के भोक्ता ही नहीं, समस्त लोकों के स्वामी भी वह प्रभु को ही समझता है। यह सृष्टि उन्हीं की है, जो धन सम्पत्ति मेरे पास है वह भी उन्हीं का दिया हुआ है, मेरे मन बुद्धि के भी स्वामी वे ही हैं। मुझे इनका सदुपयोग करना है लेकिन अपना नहीं मानना। इस प्रकार 'सबहीं नचावत राम गुसाई' के भाव से वह समस्त पदार्थो और क्रियाओं का महेश्वर उन्हें जान जगत में व्यवहार करता है पर अहंकार आदि उसे छू नहीं पाते।

सुहृदं सर्वभूतानां – 'सर्वलोक महेश्वरः' से तो स्वामी और सेवक का ही भाव लगता है। ऐसा लगता है कि वे बहुत महान है, बहुत बड़े हैं,

बहुत उंचे हैं। लेकिन भक्त को वे स्वामी लगते हुए साथ ही साथ परम सुहृद भी लगते हैं। सुहृद का अर्थ ऐसा हितैषी आत्मीय है जो किसी भी क्षण हमारा साथ नहीं छोड़ता। दयालु स्वामी तो हमारा दुख दर्द तभी दूर कर पाएगा जब हम उसे बताऐंगे पर हमारा परम मित्र जो हमेशा हमारे साथ रहता है उसे तो हमारी पल-पल की अवस्था का ज्ञान है, उसे अपना दुख-सुख बताने की आवश्यकता नहीं वह तो स्वयं हमारे साथ हंसता और रोता है।

इस संदर्भ में एक पोस्टर याद आता है जिसका सारांश यह है - एक रात मैंने एक स्वप्न देखा, मैं समुद्र के किनारे टहल रहा था और मेरे प्रभु मेरे साथ थे। अचानक आकाश में मेरे जीवन की हर घटना के दृश्य उभरने लगे। सभी दृश्यों में मैंने देखा, रेत में पद चिन्ह दिखाई दे रहे थे -साथ साथ चलते दो जोड़े कदमों के निशान। मैंने ध्यान से देखा, कहीं-कहीं केवल एक जोड़ा ही निशान थे, और वह भी उन पलों में जो मेरे लिए बेहद दर्दीले रहे थे। मैं बोल पड़ा-' प्रभु आप तो कहते हैं कि मैं अपने भक्त का साथ एक पल के लिए भी नहीं छोड़ता फिर कष्ट के इन क्षणों में मुझे क्यों छोड़ गए जब मुझे आपकी जरूरत सबसे अध्कि थी?'

भगवान ने कहा -'मेरे बच्चे मैंने तुम्हारा साथ कभी नहीं छोड़ा। जहां तुम केवल एक ही निशान देख रहे हो, वह मेरे हैं तुम्हारे नहीं, क्योंकि तुम्हें तो मैंने गोद में उठा रखा था।'

इस प्रकार 'सब कुछ ठाकुर जी का है और ठाकुरजी मेरे हैं, मेरे अपने,' यह भाव आ जाये तो कर्म योगी की भांति भोक्तापन का अभाव और ज्ञानी की भांति कर्तापन का अभाव तो अपने आप सध जाएगा। इसके लिए अलग से साधना करने की आवश्यकता कहां? 'मैं कर्त्ता नहीं' के स्थान पर 'भगवान ही कर्ता है' तथा 'मैं भोक्ता नहीं' के स्थान पर 'भगवान ही भोक्ता है' यह मानना ही भक्ति योग है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद में कर्म संन्यास योग नामक पंचम अध्याय पूर्ण हुआ।

ॐ तत् सत्

पंचम अध्याय का उपसंहार

पांचवें अध्याय के आरंभ में अर्जुन ने यह बात पूछी थी कि संन्यास योग और कर्म योग इन दोनों में श्रेष्ठ कौन है? इसके उत्तर में भगवान ने कहा कि कर्मयोग को श्रेष्ठ इसलिये कहा जा सकता है क्योंकि यह सुगम है और इसके बिना संन्यास सिद्ध होना कठिन है तथापि कल्याण की दृष्टि से दोनों समान है क्योंकि दोनों का फल एक ही है जिसे हम परमानन्द, परमात्मा या चिन्मय शांति कुछ भी नाम दे लें।

माया से उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणों में बरत रहे हैं ऐसा समझकर शरीर मन बुद्धि की समस्त क्रियाओं में कर्तापन का त्याग कर परमात्मा में एकीभाव में स्थित होने का नाम ज्ञानयोग है। इसी को संन्यास, सांख्य योग आदि नाम भी दिये जा सकते हैं। फल की आसक्ति को त्याग समत्व बुद्धि से कर्म करने का नाम कर्मयोग है। इसी को समत्व योग या बद्धि योग भी कहते हैं।

पंचम अध्याय में दोनों का विवेचन साथ-साथ कर भगवान स्पष्ट कर देते हैं कि सांख्य योगी और कर्म योगी दोनों किस प्रकार निर्लिप्तता तथा शांति को प्राप्त करते हैं। कर्मयोगी आत्म शुद्धि के विचार से कार्य करते हुए शांति प्राप्त करता है और सांख्य योगी 'नैव कुर्वन्न कारयन्' के विचार से।

पंचम अध्याय में भगवान ने यह बताया कि वे स्वयं भी किसी के कर्तृत्व, कर्म या कर्म फल संयोग की रचना नहीं करते। लोग अज्ञान के कारण परमात्मा को सम्पूर्ण सत्यता के साथ नहीं जान पाते और भ्रमित होते हैं। अज्ञान के बादल फटने पर सूर्य की भांति परमात्मा की सत्यता अपने प्रखर तप रूप में स्वयं प्रकाशित हो जाती है।

इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये बुद्धि और मन से परमात्मा के प्रति एक निष्ठ और परायण होना होगा तब सबमें परमात्मा के दर्शन होने लगेंगे। यही ब्राह्मी स्थिति है जिसमें अक्षय सुख की प्राप्ति होती है और यह

अवस्था जीते जी ही प्राप्त की जा सकती है। ब्राह्मी स्थिति को पाने के लिये वैराग्य अत्यन्त आवश्यक है। संसार को दुख योनि के रूप में समझ लेने से इसके प्रति वैराग्य होता है तथा कामना और क्रोध को जीता जा सकता है। ऐसा करने वाला ही सच्चे अर्थों में सुखी है। पंचम अध्याय के अन्त में भगवान ध्यान योग तथा भक्ति योग का भी संक्षिप्त परिचय दिया। ध्यान योग का विस्तृत विवेचन वे छठे अध्याय में करेंगे।

ॐ तत् सत्